रवीन्द्र-साहित्य : भाग १५

'मालिनी' : पाँच कहानियाँ : 'स्मरण'

नाटिका

'नयनजोड़के बाबू'
'चोरीका धन'
'स्त्रीकी चिट्ठी'
'वैरागिन'
'मुकुट'

कविता

अनुवादकर्ता
धन्यकुमार जैन

रवीन्द्र - साहित्य - मन्दिर
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

रवीन्द्र-साहित्यका
प्रत्येक भाग
एक पृथक
पुस्तक है

रवीन्द्र-साहित्यकी
समस्त रचनाएँ
मूल बंगलासे
अनूदित हैं

विषय-सूची

प्रकाशक
धन्यकुमार जैन और दौहित्र
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
४०२, अपर चितपुर रोड
कलकत्ता-७

मूल्य २।) सवा-दो रुपये

मालिनी

नाटिका

•

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

•

बंगला-रचना-काल

आश्विन : १९५३

•

अनुवादकर्ता

धन्यकुमार जैन

उत्पत्ति

'मालिनी' नाटिकाकी उत्पत्तिका एक इतिहास है ; और वह है स्वप्नघटित। बंगलाके कवि कङ्कणको देवीने स्वप्नमें आदेश दिया था, उनका गुण-कीर्तन करनेके लिए। मेरे स्वप्नमें किसी देवीका आविर्भाव नहीं था ; था केवल सोती-हुई बुद्धिमेंसे अकस्मात् मनका एक गभीर आत्म-प्रकाश।

तब मैं था लन्दनमें। निमन्त्रण था प्रीमरोज-हिलमें तारक पालितके घर। प्रवासी भारतीय, खासकर बंगालियोंका वहाँ प्रायः जमघट हुआ करता था ; और उसके साथ चलता था भोज। धूमधाममें रात ज्यादा हो गई। जिनके मकानमें मैं था, इतनी रातमें वहाँ जाकर दरवाजेकी घण्टी बजाकर अचानक उन्हें परेशान करना पालित साहबको पसन्द न आया, इसलिए उनके अनुरोधसे मुझे वहीं सोना पड़ा। बिस्तरपर मैं पड़ तो रहा, किन्तु नींद नहीं आई,— कलरवका अन्तिम पर्व तब चल ही रहा था।

इतनेमें एक स्वप्न देखा, मानो मेरे सामने किसी नाटकका अभिनय हो रहा हो। विषय था विद्रोहका षड़यन्त्र। दो मित्रोंमेंसे एक मित्रने कर्तव्य समझकर उसका भण्डा-फोड़ कर दिया राजाके पास जाकर। विद्रोही बन्दी होकर आया राजाके सामने। मरनेके पहले उसकी अन्तिम इच्छा पूरी करनेके लिए उसके मित्रको ज्यों ही उसके सामने लाया गया, उसने दोनों हाथोंकी हथकड़ीकी जंजीर उसके माथेमें मारकर मित्रको वहीं खतम कर दिया।

जागकर जो बात मुझे आश्चर्यकी मालूम हुई, वह यह कि मेरे मनका एक भाग था निश्चेष्ट श्रोता या दर्शक मात्र, और दूसरा भाग बुनता चला जा रहा था एक नाटक। स्पष्ट हो चाहे अस्पष्ट, कथोपकथनकी एक धारा कहानीको आगे बढ़ाये लिये जा रही थी। जागनेपर मैं सब बातें यादमें न ला सका। पालित साहबसे मैंने अपने मनकी क्रियाकी आश्चर्यकारिता प्रकट की थी ; किन्तु उन्होंने कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई।

किन्तु बहुत दिनों तक यह स्वप्न मेरे जाग्रत मनमें संचरण करता रहा ; और अन्तमें, बहुत दिन बाद, आज वह नाटिकाका रूप लेकर ही शान्त हुआ।

शायद इस नाटिकामें मेरी रचनाकी कोई-एक विशेषता थी, — इस बातको तब समझा जब दूसरी बार मैं इंग्लैण्ड गया : और इसके अंग्रेजी अनुवादपर किसी अंगरेज मित्रकी दृष्टि पड़ी। पहले देखा गया कि इसने आर्टिस्ट रोटेनस्टाइनके मनको खास तौरसे आकृष्ट किया है। कभी-कभी वे इसे अपने घरपर अभिनय करनेकी इच्छा प्रकट किया करते थे। मुझे ऐसा लगा कि इस नाटकके प्रधान चरित्र उनके शिल्पी-मनमें मूर्तियोंके रूपमें स्पष्ट हो उठे हैं। इसके बाद, एक दिन, ट्रेवेलियनके मुँहसे इसके विषयमें उनका मन्तव्य सुना। वे कवि हैं और ग्रीक-साहित्यके रसज्ञ भी। उन्होंने मुझसे कहा कि इस नाटकमें वे ग्रीक नाट्यकलाका प्रतिरूप देख रहे हैं। मैं ठीक समझ न सका कि वे क्या कहना चाहते हैं : कारण, कुछ-कुछ अनुवाद पढ़नेपर भी ग्रीक नाटकोंके विषयमें मुझे कोई विशेष ज्ञान न था। हमारे आगे शुरूसे ही शेक्सपीयरके नाटक ही आदर्श-स्वरूप थे। उनका बहु-शाखायित वैचित्र्य, व्याप्ति और घात-प्रतिघात शुरूसे ही हमारे मनपर अधिकार किये-हुए हैं। 'मालिनी'का नाट्य-रूप संयत संहत और देश-कालकी धारामें अविच्छिन्न है। इसके बाहरके रूपायनके सम्बन्धमें जो मत सुना गया था, यह वैसा ही है। कविताकी मर्मवार्ता आरम्भसे ही यदि रचनामें जान-बूझकर न बोई गई हो, तो कविकी दृष्टिमें भी उसके प्रत्यक्ष हो उठनेमें देर लगती है। आज मैं जानता हूं कि 'मालिनी' में कौनसी बात लिखते-लिखते उद्भासित हुई थी गौणरूपसे ईषत्गोचर। असल बात यह है कि मनके एक सच्चे विस्मयका आलोड़न उसमें दिखाई दिया था।

मेरे मनमें धर्मकी प्रेरणा तब गौरीशंकरके उत्तुङ्ग शिखरके शुभ्र निर्मल तुषार-पुञ्जके समान निर्विकल्प होकर स्तब्ध नहीं थी, बल्कि उसने विगलित होकर मानव-लोकके विचित्र मङ्गल-रूपमें मैत्री-रूपमें अपनेको प्रकट करना आरम्भ कर दिया था। निर्विकार तत्त्व नहीं है वह, मूर्तिशालाकी मिट्टी और पत्थरमें नाना विचित्र रूप लेकर वह मनुष्यको हतबुद्धि करने नहीं आई।

उसने किसी दैववाणीका आश्रय नहीं लिया। सत्य जिसके स्वभावमें है और हृदयमें जिसके अपरिमेय करुणा है, उसके अन्तःकरणसे इस परिपूर्ण मानव-देवताका आविर्भाव अन्य मनुष्योंके चित्तमें प्रतिफलित होता रहता है। समस्त आनुष्ठानिक धर्म और समस्त पौराणिक जटिलताको भेदकर ही इसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो सकता है।

मेरे इस मनका सत्यासत्य आलोच्य विषय नहीं है। वक्तव्य सिर्फ इतना ही है कि इस भावपर मालिनीने स्वतः ही अपनेको प्रतिष्ठित किया है,—इसका जो दुःख है, इसकी जो महिमा है, उसीमें इसका काव्यरस है। इस भावका अङ्कुर अपने-आप ही दिखाई दिया था 'प्रकृतिका प्रतिशोध' में,— यह बात विचार-देखनेकी है। 'निर्भरका स्वप्न-भंग' में शायद इसके भी पहले इसका आभास मिलता है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मालिनी

पहला दृश्य

राज-अन्तःपुर

मालिनी और काश्यप

काश्यप—त्याग दो, वत्से, त्याग दो सुखकी आशा, दुःखका भय। दूर करो विषय-पिपासा। तोड़ दो संसारका बन्धन, छोड़ दो प्रमोद-प्रलापकी चञ्चलता। चित्तमें धारण करो सुनिर्मल प्रज्ञाका आलोक रात-दिन, जिससे मोह-शोक पराभूत होकर दूर हो जाय चित्तसे।

मालिनी—भगवन्, रुद्ध हूं, आबद्ध हूं मैं। आँखोंसे दिखाई नहीं देता कुछ। सन्ध्याके मुद्रित-दल कमलके कोरकमें आबद्ध भ्रमरी हूं मैं, स्वर्णरेणु-राशिमें जड़ मृतप्राय। फिर भी कानोंमें आकर ध्वनित हो उठता है मुक्तिका सङ्गीत, जब तुम कृपा करते हो।

काश्यप—आशीर्वाद देता हूं मैं, शीघ्र ही अवसान होगा विभावरीका, ज्ञान-सूर्योदय-उत्सवमें, जाग्रत इस जगतके जयजयकारमें, शुभलग्नमें सुप्रभातमें खुल जायगा पुष्प-कारागारका द्वार तुम्हारा। वह महाक्षण आने-ही-वाला है। मैं चला अब तीर्थ-पर्यटनमें।

मालिनी—दासीका प्रणाम लो। [काश्यपका प्रस्थान

—वह महाक्षण आने-ही-वाला है! हृदय चञ्चल हो उठा है, कमल-पत्रपर जलबिन्दु-सा अस्थिर है चित्त मेरा। आँखें मींचती हूँ तो सुनती हूं आकाशका कोलाहल। न-जाने कौन क्या-क्या तैयारियाँ कर रहे हैं मुझे घेरकर! अदृश्य मूर्तियाँ-सी घूम-फिर रही हैं चारों तरफ मेरे। कभी बिजली-सी चमक जाती है, दे जाती है प्रकाश वह। वायुकी तरंगें कर-करके शब्द करती हैं आघात। व्यथा-सी न-जाने आज क्या चुभ रही है बार-बार मर्मस्थलमें। कुछ समझ नहीं पाती, जगतमें आज कौन बुला रहा है मुझे बार-बार!

राज-महिषीका प्रवेश

महिषी—बेटी, प्यारी बिटिया मेरी, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ मैं तुझे लेकर! बिटिया मेरी, यह-सब क्या अच्छा लगता है तुझे, इस कच्ची उमरमें? कहाँ गई वेश-भूषा, कहाँ हैं आभरण तेरे? मेरी 'सोनेकी ऊषा' आज हो रही है स्वर्णप्रभा-हीन! यह भी क्या देख सकती है मा कभी अपनी आँखोंसे?

मालिनी—क्या कभी राजाके घर जन्म नहीं लेती भिखारिनी? दरिद्रके कुलमें तू जो मा होकर जनमी थी, सो क्या भूल गई राजेश्वरी? तेरे उस बापकी दरिद्रता जगत्प्रसिद्ध है, बोल मा, वह कहाँ जायगी? इसीसे आज सर्वाङ्गमें धारण किया है मैंने तुम्हारे पिताका दैन्य-अलङ्कार, यही तो शोभा है मेरी।

महिषी—तू अपने बापके गर्वमें आकर देती है मेरे बापको उलाहना! क्या इसीलिए धारण किया था मैंने तुझे गर्भमें, अरी ओ अहङ्कारिणी पुत्री? जानती है, मेरे पिता तेरे पितासे सौ-गुने धनी हैं, इसीसे धन-रत्न-मानसे वे इतने उदासीन हैं!

मालिनी—यह तो सभी जानते हैं। जिस दिन चाचाने तुम्हारे पिताको पितृ-धनसे वंचित किया था उसी दिन क्षोभसे छोड़ दिया था घर-द्वार उन्होंने। धन-जन सम्पद-सहाय सर्वस्व कर दिया था विसर्जन निःशल्य मनसे, ले आये थे मात्र एक पैत्रिक देव-मूर्त्ति अपनी दरिद्र-कुटीरमें। उनके उस धर्मको ही दिया है तुमने मुझे जन्मकालमें, मा, और कुछ नहीं। रहने दो न, मा, अपने उस पितृकुलके दारिद्र-धनको सर्वदा अपनी कन्याके हृदयमें। मेरे पिताका जो-कुछ ऐश्वर्य है धन-रत्न-भार, रहने दो उसे राजपुत्रके लिए।

महिषी—यहाँ कौन तुझे समझता है, बेटी मेरी! बातें सुनके, न-जाने क्यों, आँखें भर आती हैं। जिस दिन तू आई थी गोदमें मेरी, वाक्यहीन मूढ़ शिशुका रूप धरकर, कौन जानता था तब कि वही नन्हा-सा मुग्ध मुख इतनी बातें करेगा दो-दिन बाद? देखा करती हूं मुखड़ा तेरा, डरसे काँपने लगती है छाती मेरी। अरी ओ सोनेकी बच्ची मेरी, यह धर्म तुझे कहाँसे

मिला, किस शास्त्रसे ? मेरे पिताका धर्म, वह तो पुराना था अनादिकालका। और, यह है संसारसे न्यारा, वेदसे न्यारा, धर्म नया, आजका गढ़ा। कहाँसे आते हैं घरमें विधर्मी संन्यासी ? देखकर मैं पाती हूं त्रास, मरती हूं डरके मारे। क्या मन्त्र सिखाते हैं वे ? सरल हृदयको जकड़ लेते हैं मिथ्याके जालमें ? लोग तो कहते हैं, बौद्ध हैं पिशाचपन्थी, जादू जानते हैं, प्रेत सिद्ध है उन्हें। मेरी बात सुन, बेटी मेरी ! धर्म क्या ढूँढ़ना पड़ता है ? धर्म है सूर्यके समान, चिर-ज्योतिर्मय, चिरकाल रहता है वह। ग्रहण कर तू उसी धर्मको, जो है सरल सनातन। भक्तिसे करो व्रत-आचार-क्रियाकर्म। शिव पूजा करो दिन-रात, वर माँगो, मिलें जिसमें उन्हीं-से पति। वे पति ही होंगे तेरे देवता, शास्त्र-ज्ञानी पण्डित सोचा करें सत्यासत्य धर्माधर्म कर्ता-कर्म-क्रिया अनुस्वार-विसर्ग। पुरुषोंका हुआ करता है प्रतिदिन स्वतन्त्र नया-नया धर्म, देश-कालके भेदसे। सदा हाहाकार करते फिरते हैं वे शान्तिके लिए सन्देह-सागरमें ; शास्त्र-शास्त्रार्थमें ही करते रहते हैं रक्तपात। रमणीका धर्म रहता है हृदयमें, गोदमें, चिरदिन स्थिर पति-पुत्रके रूपमें।

राजाका प्रवेश

राजा—पुत्री, शान्त होओ अब, कुछ दिनके लिए। ऊपर घुमड़ रहे हैं आँधीके मेघ।

महिषी—कहाँसे ले आये झूठा डर, महाराज !

राजा—झूठा डर नहीं।– हाय री अबोध पुत्री मेरी, नया धर्म यदि लाना ही चाहती है घरमें, तो क्या वर्षाकी नदी है वह जो वहा आयेगा दोनों तटोंको धसकाता-हुआ, देश-विदेशकी दृष्टि आकर्षण करता-हुआ ? लज्जा त्रास क्या कुछ भी नहीं उसके लिए ? अपना धर्म अपना ही होना है,– छिपा रहता है निभृत हृदय-मनमें। देखकर उसे कोई द्वेष न करे, परिहास न करे कठोर, यही है कहना मेरा। धर्म कोई धारण ही करना है तो धारण करो उसे मनमें, अन्तःकरणमें।

महिषी—तिरस्कार क्यों करते हो, महाराज, इस तरह, जैसे कोई भारी

अपराध किया हो मेर बिटियाने ? एक उन्हींकी पोथियोंमें लिखा है सारा सत्य, और-कहीं भी नहीं कोई लेख उसका इस संसारमें ? कहाँ हैं ब्राह्मण वे, बुला लाओ उन्हें। मेरी पुत्रीसे सीख जायें, धर्म किसे कहते हैं। फेंक दो उनके कीट-कटे धर्मको। धिक् धिक् ! – बेटी मेरी, मैं लूंगी तुझसे नये धर्मका नया मन्त्र, तोड़ दूंगी जीर्ण ब्राह्मण-शास्त्रकी शृङ्खला। तुम्हें देंगे वे निर्वासन-दण्ड ! – तुम निश्चिन्त हो, महाराज ? सोचते होगे मनमें, यह कन्या तुम्हारी कन्या है, सामान्य बालिका ! नहीं, नहीं, महाराज ! दीप्त अग्नि-शिखा है यह। मैं कहती हूँ आज, सुनो मेरी बात, यह कन्या मानवी नहीं, कोई देवी है,– आई है तुम्हारे घर। न करो अवहेलना इसकी, किसी दिन अकस्मात् उठाकर खेल अपना चली जायगी, – तब करोगे हाहाकार, राज्यका सारा धन देकर भी न पाओगे फिर इसे।

मालिनी—प्रजाकी पूरी करो प्रार्थना, पिता ! महाक्षण आगया है निकट। दो मुझे निर्वासन, पिता !

राजा—क्यों, वत्से, पिताके घर तुझे क्या कमी है, बेटी ? बाहरका जगत् बड़ा कठोर है, दयाहीन, – पिता-माताकी गोद नहीं वह, बेटी !

मालिनी—सुनो, पिता, – जो चाहते हैं निर्वासन मेरा, वे चाहते हैं मुझे ही। – मा, सुन मा, मेरी बात,– समझा नहीं सकती मैं अपने चित्तकी व्याकुलता। मुझे छोड़ दे, मा, बिना दुःख-शोकके, शाखाच्युत पत्र समझकर। सबमें जाकर रहूंगी मैं, – राजद्वारमें आकर माँग रहा है बाहरका संसार मुझे। मालूम नहीं क्या काम है, आया है आज महाक्षण मेरा।

राजा—अरी शिशुमति, क्या कहती है तू !

मालिनी—पिता, तुम हो नरपति, राजाका कर्तव्य करो। – जननी मेरी, और भी हैं तेरे पुत्र-पुत्रियाँ, मुझे छोड़ दे, मा ! मुझे न बाँध अपने स्नेह-पाशमें।

महिषी—सुनो, बात सुनो इसकी ! बात नहीं निकलती मुँहसे, देखा करती हूं विस्मयसे मुँह तेरा ! क्यों, बेटी, जनमी है जहाँ, वहाँ क्या स्थान नहीं तेरा ? बेटी मेरी, तू क्या जगत्लक्ष्मी है, जगतका सारा भार पड़ गया क्या

तेरे ही ऊपर ? निखिल संसार है तेरे बिना मातृहीन क्या, जो जायगी वहाँ नये आदरसे !– हमारी मा कौन रहेगी फिर यहाँ, तेरे चले जानेपर ?

मालिनी—मैं स्वप्न देखा करती हूँ जागकर,– सुनती हूं नींदमें, मानो आँधी चल रही है जोरसे, नदीमें उठा है तूफान, रात है अँधेरी, किनारे बँधी है नाव, – कौन करेगा पार, कर्णधार कोई नहीं,– गृहहीन यात्री बैठे हैं सब हताश होकर। मालूम होता है, अब मैं जा सकती हूं, मानो मैं जानती हूं तीरका पता,– मेरे स्पर्शसे नावको मिल जायेंगे प्राण, फिर चलेगी वह अपने पूर्ण वेगसे, – कहाँसे आया मेरे मनमें विश्वास ऐसा ? राजकन्या हूं मैं, देखा नहीं कभी बाहरका संसार मैंने, – बैठी-हुई हूँ एक ही जगह आजन्म,– चारों तरफ है सुखकी प्राचीर,– मुझे कौन निकाले लिये जा रहा है यहाँसे, कौन जाने ! बन्धन काट दो, महाराज ! छोड़ दे, मा, मुझे, मैं नहीं कन्या आज, आज नहीं राजकन्या मैं,– जो मेरी अन्तर्यामी है अग्निमयी महावाणी, वही हूं आज मैं।

महिषी—सुन लिया, महाराज ? किसकी बात है यह ? समझमें नहीं आती। यह क्या बालिकाकी बात है ? यही है तुम्हारी कन्या ? क्या मेरी ही कोखने जन्म दिया है इसे ?

राजा—जैसे रजनी जन्म देती है ऊषाको, वैसे ही। कन्या-ज्योतिर्मयी रजनीकी कोई नहीं, विश्वजयी है वह,–विश्वको देती है प्राण !

महिषी—महाराज, इसीसे मैं कहती हूँ, ढूंढ़ देखो कहाँ है मोह-मायाका शृङ्खल, जिससे बँध जाती है आलोक-प्रतिमा। (कन्या प्रति) मुँहपर आ पड़े हैं केश, यह क्या वेश है तेरा ! छिः, बेटी। अपना इतना अनादर ! आ तो सही, बाँध दूं अच्छी तरह केश तेरे। लोग क्या कहेंगे तुझे ? निर्वासन ! यही यदि हो धर्म ब्राह्मणका, तो हो, बेटी, नये धर्मका उदय,- सीख लें तुझसे धर्मका स्वरूप विप्रगण। देखूं मुंह, आ तो उजालेमें।

[महिषी और मालिनीका प्रस्थान

सेनापतिका प्रवेश

सेनापति—महाराज, विद्रोही हो गई है सारी प्रजा, ब्राह्मणोंके कहनेसे ! चाहती है निर्वासन राजकुमारीका !

राजा—तो जाओ, सेनापति, सामन्त नृपतियोंको ले आओ शीघ्र ही ।

[राजा और सेनापतिका प्रस्थान

दूसरा दृश्य

मन्दिरके प्राङ्गणमें ब्राह्मणगण

ब्राह्मणगण—निर्वासन, निर्वासन, राजदुहिताका निर्वासन चाहते हैं हम !

क्षेमङ्कर—विप्रगण, यही है सार बात । सङ्कल्प रखना दृढ़ । समझे, भाइयो, और किसी शत्रुसे डर नहीं, डर है तो केवल नारीसे ! उसके आगे अस्त्र टूट जाते हैं ; पराहत हो जाते हैं तर्क और युक्तियाँ सारी । बाहुबल झुकाता है मस्तक अपना, हृदयमें ऐसी ही पैठ जाती है सम्राज्ञी-सम मनोहर महासर्वनाशिनी !

चारुदत्त—चलो सब राजद्वार, कहें जाकर रक्षा करो, रक्षा करो, महाराज, आर्यधर्मको ग्रसना चाहती है नागिनी, तुम्हारे ही नीड़मेंसे !

सुप्रिय—धर्म ? महाशय, मूढ़ोंको उपदेश देते हो, 'धर्म क्या है' । धर्म है क्या निर्दोषको निर्वासन-दण्ड देना ?

चारुदत्त—तुम तो कुल-शत्रु विभीषण मालूम होते हो ! सभी काममें बाधा देना,—यह क्या शोभन है तुम्हारे लिए ?

सोमाचार्य—हम सब ब्राह्मण-समाजमें एकत्र मिले हैं आके, धर्म-रक्षाके लिए । तुम कहाँसे चले आये बीचमें, अतिशय निपुण विच्छेद-प्राचीर बनके सूक्ष्म सर्वनाश-से !

सुप्रिय—धर्माधर्म सत्यासत्यका विचार करेगा कौन ? अपने विश्वासमें मत हो किया है स्थिर, करके गुटबन्दी करोगे सत्यकी मीमांसा, मचाकर शोर ? युक्ति भी है कुछ ?

चारुदत्त—बड़ा दम्भ हो गया है तुम्हें, सुप्रिय !

सुप्रिय—प्रियवर, दम्भ नहीं मेरा यह। अत्यन्त अज्ञ हूं मैं। दम्भ उन्हींका है जो आज अनेकार्थक शास्त्रोंमेंसे दो-चार शब्द सीखकर निष्पाप निरपराध राजकुमारीको खींच लाना चाहते हैं घरके बाहर, भिक्षुकके पथपर, – मात्र इसलिए कि उसके और हमारे शास्त्रमें कुछ अक्षरोंका प्रभेद है !

क्षेमङ्कर—वचनास्त्रमें कौन जीत सकता है तुम्हें, बन्धुवर ?

सोमाचार्य—दूर कर दो यहाँसे सुप्रियको। विप्रगण, निकाल दो इसे सभाके बाहर।

चारुदत्त—हम निर्वासन चाहते हैं राजकुमारीका। जिनका मत नहीं मिलता हमसे, वे चले जायें बाहर सभासे।

क्षेमङ्कर—शान्त होओ, बन्धुगण !

सुप्रिय—भ्रमसे किया है निर्वाचन मेरा, विप्रगण ! मैं नहीं हूँ छाया तुम्हारी। प्रतिध्वनि नहीं मैं शास्त्र-वञ्चनाकी। जिस शास्त्रके अनुगामी हैं ये ब्राह्मण, उस शास्त्रमें कहीं भी नहीं लिखा, 'जिसकी शक्ति, उसका धर्म।' दानवी मत है यह, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस !' (क्षेमङ्करसे) चल दिया, भाई ! दो मुझे विदा दो।

क्षेमङ्कर—नहीं दूंगा विदा तुम्हें। तर्कमें ही दुबिधा है तुम्हारे, काममें दृढ़ हो तुम पर्वत-समान। बन्धु मेरे, जानते नहीं क्या तुम, आया है दुःसमय घोर ? सुप्रिय, आज मौन रहो।

सुप्रिय—बन्धु, आज धिक्कार रहा है विवेक मेरा। मूढ़ताका दम्भ अब सहा नहीं जाता मुझसे। याग-यज्ञ क्रिया-कर्म व्रत-उपवास इसीको धर्म मान कर विश्वास करोगे क्या निःसंशय ? बालिकाको दिलाकर निर्वासन-दण्ड करोगे धर्मकी रक्षा ! सोच देखो मनमें, विवेकको जाग्रत कर, मिथ्याको सत्य कहके किया नहीं प्रचार उसने। वह भी कहती है, 'सत्य ही धर्म है', दया है धर्म

उसका,– सब जीवोंसे प्रेम, 'सत्त्वेषु मैत्री'– यही है सार सर्व धर्मका। इससे अधिक जो-कुछ है, क्या है प्रमाण उसका ?

क्षेमङ्कर—स्थिर होओ, भाई ! मूल धर्म एक है,– विभिन्न हैं आधार। जल एक है, भिन्न तट हैं, भिन्न हैं जलाशय। हम जिस सरोवरसे मिटाते आये हैं प्यास पीढ़ियोंसे, वहाँ यदि अकस्मात् नवीन जलोच्छ्वास बाढ़की तरह आ जाय, तो तोड़कर नाश कर देगा वह तटभूमि उसकी। फिर उस उच्छ्वास के चले जानेपर तटभ्रष्ट सरोवरका जल क्या निकल नहीं जायगा ? तुम्हारे अन्तःकरणमें उत्स है, तुम्हें जरूरत नहीं सरोवरकी, किन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि भाग्यहीन ज्ञानहीन सर्वसाधारणके लिए जलाशय रखोगे ही नहीं तुम ! क्या यही चाहते हो तुम, कि पैत्रिक समयकी सुदृढ़ तटभूमि, बहुप्राचीन प्रेम-पुष्ट सौन्दर्यकी श्यामलता, सयत्न-पालित पुरातन छायातरु, पितृधर्म, प्राणप्रिय प्रथा, चिर-आचारित कर्म, चिर-परिचित नीति, कुछ भी न रहे ? चेतना खोकर सत्य-जननीकी गोदमें निद्रा-मग्न अनेक मूढ़ शिशु हैं जो नहीं जानते जननीको, उन्हें चेतना देनेके लिए माताके शरीरपर न करो आघात ! सदा धैर्य रखो, सखे, क्षमा करो क्षमायोग्य जनोंको, ज्ञानालोकमें पालन करो अपना कर्तव्य।

सुप्रिय—तुम्हारा ही पथगामी है चिर-दिन यह अधीन। शिरोधार्य रहेंगे तुम्हारे वचन सदा। सच है, युक्ति-सूचिकापर संसारका कर्तव्य-भार नहीं टिक सकता कभी।

उग्रसेनका प्रवेश

उग्रसेन—कार्य सिद्ध है, क्षेमङ्कर ! चञ्चल हो उठी है राज-सेना ब्राह्मणके वचन सुनकर। अब बाँध टूटना ही चाहता है।

सोमाचार्य—राज-सेना !

चारुदत्त—क्या कहा ! यह कैसा काण्ड ! क्रमशः कहीं यह विपरीत विद्रोहमें न परिणत हो जाय !

सोमाचार्य—इतना आगे बढ़ना अच्छा नहीं, क्षेमङ्कर !

चारुदत्त—धर्मबलमें ही ब्राह्मणकी जय है, बाहुबलमें नहीं। याग-यज्ञसे सिद्धि होगी। दूने उत्साहसे, आओ बन्धु, करें सब मिलकर मन्त्र-पाठ। शुद्धाचारसे योगासनसे अर्जन करें हम ब्रह्म-तेज। एकाग्र मनसे पूजें अपने इष्टदेवको।

सोमाचार्य—कहाँ हो देवी तुम, सिद्धिदात्री जगद्धात्री! तुम्हारे चरणोंके सेवक भक्तजन कभी हो नहीं सकते व्यर्थकाम। तुम्हीं नास्तिकोंका दर्प हरण करती हो, हे दर्पहारिणी! प्रत्यक्ष दिखा दो आज तुम भक्तोंका विश्वास-बल। संहारिणीके वेशमें आ खड़ी हो आज सबके सामने, अट्टहास्य हँसकर, हे मुक्तकेशी, खड्गहस्ते पाषण्डदलिनी! आओ बन्धुगण, सब मिलके एकप्राण होकर भक्ति-भरे समस्वरमें आह्वान करें प्रलयशक्तिका।

ब्राह्मणगण (समस्वरमें)—हम सब हाथ जोड़कर याचना करते हैं, आ, मा प्रलयङ्करी!

मालिनीका प्रवेश

मालिनी—आ गई मैं।

क्षेमङ्कर और सुप्रियके सिवा समस्त ब्राह्मण भूमिष्ठ होकर प्रणाम करते हैं

सोमाचार्य—यह क्या देवी, यह क्या वेश तुम्हारा? दयामयी, आई हो तुम आज म्लान वेशमें, नर-कन्याका रूप धरके! यह कैसा अपूर्व रूप है! कैसी यह स्नेहज्योति है नेत्रोंमें! यह तो नहीं संहार-मूर्ति! कहाँसे आई हो माता? क्या सोचकर मनमें, क्या चाहती हो करना?

मालिनी—निकली हूं निर्वासनमें छोड़कर पितृगृह, तुमलोगोंने बुलाया है इसीलिए, हे विप्रगण!

सोमाचार्य—निर्वासन! स्वर्गसे देवीका निर्वासन भक्तोंके आह्वानपर!

चारुदत्त—हाय हाय, क्या करें माता, तुम्हारी सहायताके बिना अब तो बचता नहीं यह भ्रष्ट संसार।

मालिनी—लौटूंगी नहीं मैं अब। जानती थी, जानती थी मैं, तुम्हारा द्वार मुक्त है मेरे लिए। मेरे ही लिए बैठे हो सब। इसीसे मैं उठी हूं जाग, सुख-सम्पदाके बीच, तुमलोगोंने जब याचना की मेरे निर्वासनकी राजद्वारमें।

क्षेमङ्कर राजकन्या !

सबके सब—राजाकी दुहिता !

सुप्रिय—धन्य है, धन्य है !

मालिनी—मुझे किया है निर्वासन। इसीसे आज मेरा घर है तुम्हारे घरमें। तो भी, सच-सच बताओ मुझे,– क्या सचमुच ही कोई प्रयोजन है मेरा, क्या चाहते हो मुझे ? सचमुच ही क्या नाम लेकर बाहरके जगतसे पुकारा था मुझे सबने, जब बैठी थी मैं अपने निर्जन घरमें, सारे जगतसे अत्यन्त दूर, शत-प्राचीरमें छिपी राज-अन्तःपुरमें एकाकिनी ? तब तो वह स्वप्न नहीं। इसीसे रो उठा था शायद हृदय मेरा, बिना कुछ समझे ही।

चारुदत्त—आओ, आओ मा-जननी, शतचित्त-शतदलमें सदा इसी तरह विराजती रहो, करुणामयी जननी-सी !

मालिनी—आई हूं आज,– पहले सिखाओ मुझे, तुम्हारा क्या करना है काज। जन्म लिया है राजकुलमें, राजकन्या हूं मैं,– कभी गवाक्ष खोल देखा नहीं बाहरका संसार, देखा नहीं यह जगत कितना विराट है विशाल ! कहाँ क्या व्यथा है, जानती नहीं कुछ। सुना है, दुःखमय है यह वसुन्धरा,– उस दुःखका ही लूंगी परिचय तुम्हारे साथ।

देवदत्त—बहे जाते हैं हम अश्रुनीरमें, मा, तुम्हारी बात सुन।

सबके सब—हम हैं सब पाखण्डी, पामर।

मालिनी—आज मुझे ऐसा लगता है अमृतका पात्र है मानो मेरा हृदय, मानो वह मिटा सकता है इस विश्वकी क्षुधा, मानो उँड़ेल सकता है वह सान्त्वनाकी सुधा – जितने दुःख जहाँ भी कहीं हैं सबपर – अनन्तप्रवाहसे। देखो देखो, नीलाकाशसे मेघ हो गये हैं दूर, चाँद दे रहा है प्रकाश ! कैसा विशाल है लोकालय, कैसा शान्त है आकाश ! एक ज्योत्स्ना फैलाकर सारे जगतको किसने लगा लिया है छातीसे, – राजपथ, वास-भवन, उदार मन्दिर,

स्तब्ध-छाया वृक्षश्रेणी, दूरवर्ती नदी-तट, इन सबको ! बज रहा है पूजाका घण्टा, आश्चर्य-पुलकसे फूल उठा है मेरा अंग-अंग, आँखोंमें भरे आ रहे हैं आँसू,—कहाँसे चली आई मैं आज तुम्हारे इस ज्योत्स्नालोकमें, तुम्हारे इस विस्तीर्ण सर्वजनलोकमें !

चारुदत्त—तुम विश्वदेवी हो, देवी !

सोमाचार्य—धिक् पाप-रसनाको ! सौ-सौ टुकड़े नहीं हो गये वेदनासे उसके, चाहा उसने जब तुम्हारा निर्वासन !

देवदत्त—चलो सब मिल विप्रगण, जननीको जयजयकारसे रख आवें हम राजगृहमें ।

सबके सब (एकसाथ)—जय जननीकी ! जय माता लक्ष्मीकी ! जय करुणामयीकी !

[क्षेमङ्कर और सुप्रियके सिवा, मालिनीको घेरे-हुए सबका प्रस्थान

क्षेमङ्कर—दूर हो, मोह दूर हो ! – कहाँ चले, सुप्रिय ?

सुप्रिय—छोड़ दो, छोड़ दो मुझे ।

क्षेमङ्कर—स्थिर होओ । तुम भी क्या, मित्र, अन्धे होकर जनस्रोतमें बह जाओगे ?

सुप्रिय—यह क्या स्वप्न है, क्षेमङ्कर ?

क्षेमङ्कर—स्वप्नमें मग्न थे अब तक,–अब आँखें खोलो, देखो चारों ओर ।

सुप्रिय—मिथ्या है तुम्हारी स्वर्गपुरी, मिथ्या हैं देव-देवी, क्षेमङ्कर ! व्यर्थ ही भटका किया इस संसारमें अब तक मैं । मिली नहीं कोई भी तृप्ति किसी शास्त्रमें, हृदय रोता ही रहा सदा संशयमें । आज पा गया अपना धर्म मैं, हृदयके अत्यन्त पास । सबके देवता 'तुम्हारे शास्त्र'के देवता हैं, मेरे नहीं। प्राण कहाँ हैं उसके ? मेरे प्राणोंमें वे बोलते कहाँ हैं ? क्या प्रश्नोंका देते हैं उत्तर वे ? क्या व्यथापर उँड़ेलते हैं सान्त्वना-सुधा वे ? कौन हो, देवी, तुम, आज किसने मेरी जीवन-नावपर रखे हैं चरण, सारी जड़ता उसकी करके हरण ! यह कैसी गति दी उसे ! इतने दिन बाद इस मर्त्य-धरणीपर मानवके घर पा गया मैं अपना जीवन-देवता ।

क्षेमङ्कर—हाय, हाय, सखे, अपना हृदय जब भूल जाता है अपनेको मायामरीचिकामें पड़, बड़ा भयङ्कर समय होता है तब वह। शास्त्र बन जाते हैं इच्छा अपनी तब, धर्म हो जाता है कल्पना! यह ज्योतिर्मयी रात्रि, अपने सौन्दर्यसे जिसने जल-स्थल-आकाश भर दिया है, यही क्या है चिरस्थायी? कल प्रातःकाल ही भवसिन्धु क्या अपनी शत-सहस्र क्षुधाओंसे शतकर्म-जालमें न घेर लेगा इसे,- महा कोलाहलसे नहीं होगा क्या कठोर रण विश्व-रणस्थलमें? तब यह ज्योत्स्ना-सुप्ति स्वप्न-माया-सी जान पड़ेगी, अत्यन्त क्षीण मात्र छायामय। जिस सौन्दर्य-मोहने घेर रखा है तुम्हारा हृदय, वह भी तो है इसी चाँदनी-सा, - धर्म कहते हो उसे? एक बार आँखें खोल देखो चारों ओर, कितना दुःख है, कितना दैन्य है, कितनी है विकट निराशा! वह धर्म तुम्हारा क्या मिटा देगा तृषातुर जगतकी मध्याह्न-पिपासा? इस संसारमें तुम्हारा यह क्षीण मोह किसके क्या काम आयेगा? तपती धूपमें खड़े हो रण-रङ्गभूमिपर, अब भी क्या मग्न हो डूबे रहोगे इस नींदमें, भूले रहोगे अपनेको स्वप्नके धर्ममें? और कुछ नहीं? नहीं, सखे!

सुप्रिय—नहीं, नहीं।

क्षेमङ्कर—तो देखो आँख उठाके, सामने देखो अपने। बन्धु, अब रक्षा नहीं। लग चुकी है अग्नि अब। जलके भस्म हो जायगी पुरानी अट्टालिका उन्नत उदार, सारा भारत-खण्ड, जिसके घर-घरमें जनमे हैं मानव। - अब भी तुम्हारी आँखोंमें स्वप्न लगा हुआ है, सखे! - हुआ था खाण्डव-दहन जब, समस्त विहङ्गकुल उड़ता फिरा था तब गगन-गगनमें, करुण क्रन्दनसे आच्छन्न कर दिया था स्वर्गको, छातीसे लगनेवाले असहाय बच्चोंका स्मरण कर। हे सुप्रिय, उसी तरह उद्वेगसे अधीर पितृकुल नाना स्वर्गोंसे आ-आकर आशङ्कासे व्याकुल हुआ फिर रहा है शून्यमें, आर्त कलस्वरसे आसन्न सङ्कटातुर भारतके आकाशपर। फिर भी, सखे मेरे, मग्न हो तुम स्वप्नमें! याद कर देखो, आर्यधर्मका महादुर्ग है यह तीर्थ-नगरी, पुण्यधरा काशी! द्वारपर इसके कौन है प्रहरी? यह क्या आज स्वप्नमें भूली रहेगी कर्तव्यको, जब शत्रु हैं समागत, रात्रि है अन्धकार, मित्र हैं गृहद्रोही, पौर-परिवार हैं निश्चेतन? हे सुप्रिय,

उठाओ आँख, देखो, देखो ! बात करो। कहो तुम, मुझे अकेला छोड़ क्या चले जाओगे मायाके पीछे तुम, विश्वव्यापी इस दुर्योगमें, प्रलयकी रात्रिमें ?

सुप्रिय—कभी नहीं, कभी नहीं। सदा रहूंगा मैं तुम्हारे साथ, छोड़ दूंगा आराम सब, छोड़ दूंगा जीवन-सुख।

क्षेमङ्कर—तो सुनो, सखे, मैं चल दिया।

सुप्रिय—कहाँ ?

क्षेमङ्कर—देशान्तर। अब कोई आशा नहीं और। घरमें लग चुकी है अग्नि। बाहरसे लाऊंगा रक्तस्रोत,—वही बुझायेगा अग्नि यहांकी। जाऊं, सेना लाऊँ।

सुप्रिय—यहाँकी सेना तैयार है।

क्षेमङ्कर—झूठी आशा है। अब तक वह दल-बल सहित मुग्ध पतंगोंकी तरह जल मरी होगी वह्नि-शिखामें। सुनो, जयध्वनि सुनो ! सुन ली ? उन्मत्त नगरी आज धर्मकी चितापर जला रही है उत्सव-दीप !

सुप्रिय—तुम्हें यदि जाना ही है, भाई, तो कठिन प्रवासमें मैं भी जाऊंगा तुम्हारे साथ।

क्षेमङ्कर—तुम कहाँ जाओगे, बन्धु मेरे ? तुम यहीं रहो सदा सावधान, राजभवनका समाचार रखना। पत्र लिखना मुझे। देखना, मित्र, भूल न जाना आखिर नई मरीचिकामें, छोड़ न देना मुझे। याद रखना सदा अपने प्रवासी इस मित्रको।

सुप्रिय—सखे, मरीचिका नई है, मैं तो नया नहीं हूं। तुम पुराने हो, मैं भी पुराना हूँ।

क्षेमङ्कर—दो आलिंगन, बन्धु मेरे !

सुप्रिय—पहला विच्छेद है आज। थे सदा एकसाथ, विरह-विहीन हृदय लेकर चले थे एकसाथ;—आज तुम कहाँ जाओगे, और मैं कहाँ रहूंगा, कौन जाने !

क्षेमङ्कर—फिर वापस आ मिलेगा बन्धु तुम्हारा। मात्र एक डर है, क्रान्तिके दिन हैं ये, बड़ा दुःसमय है, छिन्न-भिन्न हो जाता है इसमें ध्रुव

बन्धन भी, भाईपर भाई करता है चोट, मित्र हो जाते हैं विरोधी। निकल पड़ा हूँ आज अन्धकारमें, अँधेरेमें ही लौट आऊँगा घर। देखूँगा, क्या दीप जलाये बैठा है बन्धु मेरा घरके द्वारपर ? यही आशा लिये जा रहा हूं, बन्धु, विदा

तीसरा दृश्य

अन्तःपुरमें महिषी

महिषी—यहाँ भी नहीं ! मा मेरी, अब क्या होगा ! आँखों ही आँखोंमें कहां तक रखा जाय ! सर्वदा डर लगा रहता है, रातको नींद नहीं आती, जाग-जाग उठती हूँ, पुकारती हूँ नाम लेकर। आँखोंसे ओझल होते ही शङ्का होती है, कहाँ गई मेरी स्वप्न-स्वरूपिनी ! जाऊँ, ढूँढ़ूँ, देखूँ कहाँ जा छिपी है वह। [प्रस्थान

युवराजके साथ राजाका प्रवेश

राजा—आखिर देना ही पड़ेगा मालूम होता है निर्वासन-दण्ड !

युवराज—और तो कोई उपाय नहीं देखता। जल्दी कीजिये, नहीं तो राज्य खोना पड़ेगा, महाराज ! सेना और नगरके प्रहरी सबके सब विद्रोही हो उठे हैं। स्नेह-ममता छोड़कर कर्तव्य पालन करो, महाराज ! मालिनीको निर्वासित करो शीघ्र ही।

राजा—धीरे, वत्स, धीरे। दूंगा उसे निर्वासन-दण्ड,— पूरी करूंगा मैं प्रार्थना, पालूँगा कर्तव्य अपना। यह न समझना कि मोहमें मुग्ध वृद्ध हूँ मैं, या हृदय मेरा दुर्बल है, राजधर्मकी उपेक्षा कर गिराऊँगा मैं अश्रुनीर।

महिषीका पुनःप्रवेश

महिषी—महाराज, महाराज ! बताओ, बताओ सच-सच, कहाँ छिपा रखा है उसे, रुलानेके लिए मुझे ? कहाँ है वह ?

राजा—कौन, रानी ?

महिषी—मालिनी मेरी ।

राजा—कहाँ है वह ? चली गई ? घरमें नहीं है अपने ?

महिषी—नहीं है, नाथ ! जाओ तुम सेना लेकर, खोजो उसे घर-घर, द्वार-द्वार,–जल्दी करो । हाय हाय, नाथ, चुराके ले गये हैं उसे सब प्रजा मिलके । निष्ठुर चतुराई है यह उनकी । दूर कर दो सबको । सूनी कर दो इस नगरीको । नहीं तो वापस ला दें वे मेरी मालिनीको ।

राजा—चली गई ! करता हूँ प्रतिज्ञा मैं, वापस लौटा लाऊँगा मैं अपनी गोदमें अपनी गोदकी कन्याको । धिक्कार है राज्यको ! धिक्कार है इस धर्महीन राजनीतिको ! बुलाओ, बुलाओ सेनाको ।

मालिनीको लेकर मशाल और समारोहके साथ सेना और प्रजाका प्रवेश

ब्राह्मणगण—जय, जय, शुभ्र पुण्यराशिकी जय ! जय मूर्तिमती दयाकी जय !

महिषी (दौड़कर मालिनीके पास जाकर)—अरी ओ सत्यानासिनी, राक्षसी कन्या, मेरे हृदयमें बसनेवाली निर्दय पाषाणी, एक क्षण भी नहीं छोड़ती मैं छातीसे अलग,–तो भी तू आँख बचाकर कहाँ चली गई थी बता ?

प्रजागण—मत करो तिरस्कार, महारानी ! हमारे घर गई थी एक बार हमारी मा ।

चारुदत्त—हमारी क्या कोई नहीं ये, माता-रानी ? देवी दयामयी केवल तुम्हारी ही हैं ?

देवदत्त—लौटा तो लाये हम पुण्यवती राजलक्ष्मीको ।

सोमाचार्य—लक्ष्मी माता, सुनो, भूल न जाना हमें । आशा हम रखते हैं कचित्-कभी सुननेकी श्रीमुखसे मधुर वाणी, आशीर्वाद पानेकी अपने शुभ कार्यमें । तभी तो होगी पार हृदय-नाव, और पायेंगे मार्ग हम, सहारे ध्रुवताराके पहुंचेंगे मुक्ति-पार ।

मालिनी—जाना मन दूर तुम, जो आये हो मेरे पास। प्रतिदिन दिखाई दे जाना सब राजपुरमें आ। सबको लाना बुला, मैं चाहती हूँ देखना। यहीं रहकर मैं रहूँगी पुरवासियोंके घर, निश्चिन्त यह जानना।

सबके सब—धन्य है! धन्य हुए आज हम,—धन्य हुई काशी आज!

[प्रस्थान

मालिनी—हे पिता, आज मैं सबकी हुई। अहो, कैसा है आनन्द आज! जयकार-ध्वनि उठी क्षणमें हजारों हृदय विदारकर। कैसा आनन्द है!

राजा—कैसा सौन्दर्यमय आजका यह दृश्य है! समुद्र-मन्थनसे जब लक्ष्मी निकली थीं, उन्हें घेरकर महा-कलरव और उन्माद-नृत्यसे जैसे उन्मत्त हो उठी थीं समुद्रकी तरंगें, वैसे ही देखकर अपनी लोक-लक्ष्मीको उच्छ्वसित हो उठा है आज जन-पारावार!

मालिनी—मा मेरी, प्रासाद-प्राचीरमें अब न रख सकोगी छिपाके मुझे, तुम्हारे अन्तःपुरमें ले आई हूँ मैं साथ अपने सर्वलोकको। मानो आज मेरी देह नहीं, कोई भी बाधा नहीं, मानो प्राण हूँ मैं इस विश्वकी।

महिषी—ऐसा ही हो। सबमें रह तू विश्वप्राण होकर। अपनाकर सबको रह तू अपनी माके ही पास। बाहर जानेका प्रयोजन नहीं, यहीं ले आ तू अपने विशाल संसारको,—माता-पुत्री दोनों मिल करेंगी हम सेवा उसकी। रात हो चुकी है, बेटी, आओ, बैठो तुम मेरे पास, शान्त करो अपनेको। तुम्हारी आँखोंमें जल रही है उद्दीप्त प्राणोंकी ज्योति, निद्राके विश्रामको कर दिया है भस्म उसने। आओ, थोड़ी देर कर लो आराम, बेटी!

मालिनी (मासे लिपटकर)—मा, मा, श्रान्त हूँ मैं। काँप रही है देह मेरी सारी। कहाँ चली गई थी मैं, माको छोड़कर अपनी, प्रशान्त स्नेहसे विच्छिन्न हो इस विशाल पृथ्वीमें? मा, ला दो नींद मेरी आँखोंमें, धीरे-धीरे गाओ तुम लोरियाँ, जैसे गा-गाके सुलाती थीं मुझे तुम बचपनमें। आज मेरी आँखोंमें उमड़ रहे हैं आँसू, विषादकी वेदना छा गई है हृदयपर।

महिषी—कहाँ हो वसुगण, रुद्रगण, विश्वके देव सब, रक्षा करो सब मेरी पुत्रीकी। मर्त्यलोक स्वर्गलोक अनुकूल हों, शुभ हो, मङ्गल हो मेरी कन्याका।

हे आदित्य, हे पवन, करती हूं प्रणिपात तुम्हें। हे सर्व-दिक्‌पालगण, दूर करो मालिनीका सर्व-अकल्याण। – अहा, देखते-देखते झपने लगीं आँखें इसकी नींदसे ! बलाएँ दूर हों, दूर हों विघ्न सब,– विश्राम कर बेटी तू माकी सुख-गोदमें। – महाराज, कन्या तुम्हारी है, यह कैसा खेल इसका ? सारा संसार है हाथका खिलौना जिसका, उसे रख दोगे अपने घरके कोनेमें छिपा, सुलायेगी मा उसे छुआकर हस्तकमल उसके ललाटपर ! अवाक हो गई मैं देखकर काण्ड कन्याका। जैसे हैं खिलौने, ठीक वैसा ही है खेल इसका। महाराज, अभीसे होओ सावधान ! – नया धर्म किसे कहते हो तुम ? कौन लाया नया धर्म, कहाँ है जन्मभूमि आकाश-कुसुमकी ? न-जाने किस मत्तताकी बाढ़में बहके आया यहाँ वह, माकी गोदसे छीने लिये जा रहा है कन्याको,– इसीका नाम धर्म है ? नाथ, तुम भी न जा मिलो कन्याके खेलमें। कह दो ग्रहविप्रोंसे, करें वे शान्ति-स्वस्त्ययन, करें वे देवार्चना। रचो स्वयंवर-सभा मालिनीके लिए। मनचाहा देखके वर, उठाके खेल, योग्य कण्ठमें पहनानेको वरमाला। नाथ, तभी दूर होगा नया धर्म, दूर होगा मेरा त्रास।

चौथा दृश्य

राज-उपवन

परिचारिकाओंके साथ मालिनी और सुप्रिय

मालिनी—हाय, क्या कहूं अब ! तुम भी आये हो क्या मेरे द्वारपर, द्विजोत्तम ? क्या दूं तुम्हें ? क्या करूं तर्क ? कौनसा शास्त्र दिखाऊं लाकर ? जो तुम नहीं जानते सो क्या मैं जानती हूं ?

सुप्रिय—शास्त्रके साथ करना हूं तर्क, तुम्हारे साथ नहीं। सभामें पण्डित हूँ मैं, तुम्हारे चरणोंमें हूँ बालकके समान। देवी, ले लो मेरा भार। जिस पथसे जाओगी, जीवन मेरा साथ जायगा तुम्हारे, समस्त तर्क छोड़कर दीप-शिखाकी नीरव छाया-सम।

मालिनी—हे ब्राह्मण, तुम जब करते हो कोई प्रश्न, मेरी शक्ति हो जाती है नष्ट तब, भूल जाती हूँ बात सब। बड़ा आश्चर्य होता है मनमें। हे सुप्रिय, मेरे पास क्या कुछ जाननेको आये हो तुम भी?

सुप्रिय—जानना कुछ नहीं मुझे, नहीं चाहता ज्ञान मैं। सब शास्त्र पढ़ चुका हूं। किया है ध्यान शत-सहस्र तर्क और मतोंका। भुला दो, भुला दो जितना जानता हूं, सब जानना दूर कर दो मेरा। मार्ग है हजारों-लाखों, प्रकाश ही नहीं है केवल, ओ देवी ज्योतिर्मयी,— इसीसे चाहता हूं मैं एक आलोक-रेखा उज्ज्वल सुन्दर तुम्हारे हृदयसे।

मालिनी—हाय, विप्रवर, जितना तुम माँगते हो उतना ही मानो मैं देखती हूं अपनेको दरिद्र-सी। जिस देवताने मेरे मर्ममें बज्रालोक मारकर कही थी किसी दिन विद्युन्मय वाणी, आज वह कहाँ गया? हे ब्राह्मण, उस दिन क्यों नहीं आये तुम? क्यों अब तक सन्देहसे रहे दूर? आज बाहर निकलकर मेरे मनमें जाग उठता है भय, काँप उठता है हिया मेरा। क्या करूं, क्या कहूं, कुछ आता नहीं समझमें। महाधर्म-तरणीकी वाहिका बालिका कर्णधारिका नहीं जानती कहाँ उसे जाना है। मालूम होता है बड़ी अकेली हूं मैं, सहस्र हैं संशय, विशाल है संसार, असंख्य हैं पथ जटिलसे जटिलतर, नाना हैं प्राणी,— दिव्यज्ञान क्वचित्-कभी आता है क्षणप्रभा-वत् क्षण-भरके लिए। तुम हो महाज्ञानी, होगे क्या सहाय मेरे?

सुप्रिय—अशेष सौभाग्य समझूंगा यदि चाहो मुझे, देवी!

मालिनी—बीच-बीचमें निरुत्साह मानो रोक देता है मेरे समस्त अन्तरके प्रवाहको, अकारण आँसू बहने लगते हैं आँखोंसे, न-जाने किस गूढ़ वेदनासे! अकस्मात् दृष्टि पड़ती है अपनेपर सहस्र जनोंके बीच। होगे तुम बन्धु मेरे ऐसे दुःसमयमें? होकर मेरे मन्त्रगुरु दोगे मुझे नये प्राण? बोलो!

सुप्रिय—प्रस्तुत रखूंगा सदा अपने इस क्षुद्र जीवनको। अपने सम्पूर्ण चित्तको सबल और निर्मल कर, बुद्धिको करके शान्त, समर्पण करता रहूंगा मैं चिरकाल तक तुम्हारे ही कार्यमें।

प्रतिहारीका प्रवेश

प्रतिहारी—प्रजागण दर्शन चाहते हैं देवीका !

मालिनी—आज नहीं, आज नहीं। सबसे बिनती है मेरी, आज मेरे पास कुछ भी नहीं। रिक्त चित्त मेरा कभी-कभी सोचना चाहता है। विश्राम चाहती हूं मैं, जड़ता दूर करनेको। [प्रतिहारीका प्रस्थान —हाँ, क्या बात सुना रहे थे, कहो फिर वही बात, अपनी कहानी। सुनकर आश्चर्य होता है, पाती हूं नई वार्ता, जगता है नया दृश्य आँखोंके सामने। जो भी है तुम्हारा अपना सुख-दुःख और घरकी वार्ता सब, आत्मीयकी तरह मैं प्रत्यक्ष जान जाती हूं। क्षेमङ्कर है बान्धव तुम्हारा ?

सुप्रिय—बन्धु है, भाई है, प्रभु है, सब-कुछ है वह मेरा। मेरा वह सूर्य है, मैं उसका राहु हूं,– मैं हूं उसका महामोह ! बलिष्ठ है उसकी बाहु, मैं हूं उसका लौहपाश। बचपनसे ही वह दृढ़ है अटलचित्त, और मैं हूं संशयके स्रोतमें बहनेवाला सदा। फिर भी उसने मुझे मित्र समझकर सदा अपने हृदयमें दिया है स्थान। बांध रखा है मुझे प्रबल अटल प्रेम-पाशमें, बिना किसी सन्देहके, बिना किसी दुबिधाके। चन्द्रमा जैसे अपने अनन्त गमन-पथमें स्नेहसे हँसता-हुआ अपने अक्षय कलङ्कको लगाये रखता है हृदयसे। व्यर्थ नहीं होता, देवी, विधिका नियम कभी। लौहमय नाव कितनी ही दृढ़ क्यों न हो, यदि वह अपनी छातीके नीचे रख छोड़े छोटा-सा छिद्र एक भी, तो अवश्य ही कभी-न-कभी निरुपाय होकर सङ्कट-समुद्रमें डूबना ही पड़ेगा उसे। हाय, अपने बन्धु-चिरन्तनको मैं ही डुबोऊंगा, यही था विधिका लेख !

मालिनी—डुबो दिया उसे तुमने ?

सुप्रिय—देवी, डुबो दिया उसे मैंने। जीवनकी सब बातें बता दी हैं तुम्हें, केवल वही एक बात बाकी है। (कुछ देर सोचनेके बाद) उस दिन विद्वेष गरज उठा था दयाधर्म-हीन, तुम्हें घेरकर चारों तरफसे,–अकेली खड़ी थीं तब तुम अपनी पूर्ण महिमामें। कैसी रागिनी बजाई तुमने ! वंशी-ध्वनिसे मानो मन्त्राहत विद्रोहने आकर तुम्हारे चरणोंमें झुका दिया फन अपना ! केवल

क्षेमङ्कर विप्र पाषाण-चित्त रहा अटल निश्चल-हृदय। एक दिन हाथ पकड़के बोला वह मुझसे, "मित्र, मैं चला दूर-देशान्तरको। लाकर विदेशी सेना वरुणा-तटपर नये धर्मको मूलसे उखाड़ फेकूंगा पुण्य-काशीसे।" और चला गया खाली-हाथ अज्ञात-वासमें। साथ ले गया मात्र मेरा हृदय और प्रतिज्ञा कठोर। उसके बाद, जानती हो, क्या हुआ मेरा? मिल गई मानो मुझे नव-जन्मभूमि, जिस दिन इस शुष्क चित्तमें आ-बरसीं तुम सुधावृष्टि-सम। "सब जीवोंपर दया"— जानते सब हैं, बहुत पुरानी बात है,— फिर भी बात यह इस विश्वमें बैठी थी लाखों वर्षसे संसार-सागरके उस पार। उसे तुम ले आईं अपनी सोनेकी नावमें बिठाकर इस पार, सबके घरके द्वारपर। हृदयके अमृतसे स्तन्य दान किया है तुमने उस देव-शिशुको, उसने आज नव-जन्म पाया है मानव-पुरीमें तुम्हें 'मा' कहके। स्वर्ग है कितनी दूर, कहाँ हैं देवता उसके, कौन जानता है यह संवाद! केवल इतना ही जानते हैं हम, आत्म-अभिमानकी बलि देकर करना होगा प्रेम हमें, करनी होगी 'मैत्री सब जीवोंसे', विश्वकी वेदनाको अपना बना लेना होगा। जो-कुछ है वासना, वह केवल अपने लिए ही है, इसीलिए दुःखमय है वह। याग-यज्ञ तपस्या किसीमें भी मुक्ति नहीं, मुक्ति है केवल विश्वके कार्यमें, विश्वके प्रेममें। घर जाकर उस निशीथ रातमें रो उठा। बोला उच्चस्वरमें, 'बन्धु, बन्धु, कहाँ गये तुम, दूर-दूरान्तर असीम धरणीमें भटकोगे कहाँ तक, कब तक?' फिर उसके पत्रकी करता रहा आशा। किन्तु पत्र नहीं मिला। न मिला कोई संवाद उसका। मैं सिर्फ जाता-आता रहता हूं राजगृहमें: चारों ओर रखता हूं दृष्टि, पूछता हूं विदेशियोंसे नाना वार्ता, चित्त रहता है शंकित सदा,— नाविक जैसे देखा करता है समुद्रमें, चकित नेत्रोंसे आकाशका कोना-कोना, कहाँ किधर घने हो रहे हैं बादल तूफानके। आया तूफान आखिर, छोटे-से एक पत्रके रूपमें। लिखा है उसने, रत्नवतीनगरीके राजाकी सेना लिये आ रहा है वह, शोणितके स्रोतमें बहानेके लिए नव-धर्मको, डूबते-हुए पितृधर्मको तटपर लगानेके लिए देगा प्राणदण्ड राजकुमारीको! प्रचण्ड आघातसे तोड़ दिया उसने प्राचीन स्नेहपाशको एक क्षणमें। राजाको दिखा दिया पत्र मैंने। मृगयाके बहाने

राजा गये हैं गुप्त-रूपसे सैन्यदल-बलके साथ चढ़ाई करने उसपर। यहाँ मैं लेट रहा हूं धूलमें, अपने मर्मस्थलमें चुभा रहा हूं अपने ही दाँत।

मालिनी—हाय, क्यों नहीं आने दिया तुमने यहाँ उसे, मेरे गृह-द्वारपर सेनाके साथ? इस घरमें वह प्रवेश करता पूज्य अतिथिकी तरह, – बहुत दिनका प्रवासी लौटता अपने देशमें।

राजाका प्रवेश

राजा—आओ, आलिङ्गन दो, हे सुप्रिय! गया था अनुकूल मुहूर्तमें समाचार पाकर। बन्दी कर लाया हूं क्षेमङ्करको, अनायास ही। थोड़ी भी हो जाती देर, तो सोते-हुए राज-प्रासादपर अकस्मात् भयङ्कर होता वज्रपात, जागनेका अवसर ही न मिलता कभी। आओ, बन्धु मेरे, आओ!

सुप्रिय—क्षमा करो, महाराज!

राजा—केवल रीती आत्मीयता ही नहीं, प्रिय बन्धु, मनमें न लाना कभी ऐसी बात कि राज-आलिङ्गन ही पुरस्कार है तुम्हारा। क्या ऐश्वर्य चाहते हो, बोलो? क्या नवीन सम्मान सृजन करूं तुम्हारे लिए? बताओ मुझे।

सुप्रिय—कुछ नहीं, कुछ नहीं, पेट भरूंगा मैं भिक्षा करके द्वार-द्वार।

राजा—सच कहो, लोगे राज्यखण्ड तुम?

सुप्रिय—धिक्कार है राज्यपर। रहने दो।

राजा—अहो, अब समझा! तो कोई प्रण जीतना चाहते हो तुम। बताओ, किस चाँदको पाना चाहते हो हाथमें? बोलो, पूरी करूंगा मनकी साध तुम्हारी, देता हूँ अभय मैं, बोलो! कौनसी असम्भव आशा है मनमें, खुलासा कहो। कहाँ गई भाषा? अधिक दिन नहीं हुए अभी, उस दिन, याद है तुम्हें, तुम्हीं दिलाना चाहते थे मालिनीको निर्वासन-दण्ड अग्रणी होकर! आज फिर करोगे क्या वही प्रार्थना, राज-दुहिताका निर्वासन हो पितृगृहसे? साधनामें असाध्य कुछ भी नहीं, सिद्ध होगी वाञ्छा,– भरोसा रक्खो मनमें। (कन्यासे) –तो सुनो जीवन-प्रतिमे, वत्से, जिसने तुम्हारे प्राण बचाये थे वही विप्र सुप्रिय, सबका प्रिय, प्रियदर्शन, उसे—

सुप्रिय—शान्त होओ, शान्त होओ, राजन्! (मालिनीसे)- अयि देवी, आजन्मके भक्ति-उपहारमें पाया है अपने इष्टदेवको कितने अकिञ्चनोंने,–उसी तरह पाता यदि अपनी देवीको, तो चिरकालके लिए धन्य हो जाता मैं। राजाके हाथसे पुरस्कार! क्या किया है मैंने? अपने आशैशव बन्धुत्वको बेच दिया है मैंने, उसीके बदलेमें ले जाऊँ आज परिपूर्ण सार्थकताको लादकर माथे पर अपने घर! नहीं, नहीं, तपस्या करके माँगूंगा परमसिद्धि जन्मान्त तक, जन्मान्तमें पाऊं यदि, पाऊँ तभी, चिन्ता नहीं। बन्धुका करके विश्वास भङ्ग, सरल स्वर्गलोक भी नहीं चाहता लेना। मैं पूर्णकाम हो तुम, देवी, अपने अन्तःकरणके महत्त्वकी सेवा कर पाई है अनन्त शान्ति,–मैं हूं दीन-हीन, द्वार-द्वार भटकता फिरता हूं अदृष्ट-अधीन, श्रान्त हो निज-भारसे। और कुछ नहीं चाहता, और न चाहूंगा कभी,–दे रही हो जो निखिलको शुभकामना, याद कर इस अभागेको भी दे देना उसीमेंसे एक कण मन-ही-मन।

मालिनी (अपने प्रति)—अरे ओ रमणीका मन, कहाँ तू बैठकर हृदयमें करता है क्रन्दन, मध्याह्नके निर्जन नीड़में, प्रिय-विरहिता कपोतीकी तरह? (पितासे) – क्या किया, बोलो पिता, बन्दीका विचार?

राजा—प्राणदण्ड दिया गया है उसे।

मालिनी—क्षमा करो, एकान्त प्रार्थना है मेरी तुम्हारे चरणोंमें।

राजा—राजद्रोही है, वत्से, वह! उसे कर दूं क्षमा?

सुप्रिय—कौन किसका विचार करता है इस संसारमें। उसने चाहा था क्या राज्य, महाराज? वह जानता था, धर्मद्रोही हो तुम, इसीसे आया था तुम्हारा विचार करने अपने बलपर। जिसमें ज्यादा बल है वही है विचारक यहाँ। वह यदि जीत जाता कहीं आज दैवसे, तो वही बैठता विचारक बन, और तुम होते अपराधी, महाराज!

मालिनी—क्षमा करो, दे दो उसे प्राणदान, महाराज! उसके बाद याद कर अपने हितैषी बन्धुका उपकार, जो इच्छा हो तुम्हारी, दे देना। ले लेंगे ये आदरसे।

राजा—क्यों सुप्रिय, क्या कहते हो तुम? बन्धुको करूं मैं बन्धु-दान?

सुप्रिय—चिर-दिन स्मरण रहेगा मुझे तुम्हारा यह अनुग्रह-ऋण।

राजा—किन्तु उसके पहले एक बार देखूँगा मैं परीक्षा कर धीरत्व उसका। देखूँगा, मरण-भयसे डिगता है या नहीं कर्तव्य-बल। महत्त्वकी शिखा जलती है नक्षत्रके समान,—दीप बुझ जाता है आँधीसे, किन्तु तारे नहीं बुझते कभी। पीछे करूंगा बातें ये। अपने बन्धुको तुम पा जाओगे, सुप्रिय, बीचमें उपलक्ष्य मात्र हूँ मैं। इस दानसे तृप्त नहीं होता मन। और भी दूंगा। पुरस्कारके रूपमें नहीं,—राजाका हृदय जीत लिया है तुमने, इसलिए।—वहाँसे ग्रहण करो तुम सर्वोत्तम श्रेष्ठ रत्न हृदयका। (पुत्रीसे)—पुत्री, कहाँ थी यह लज्जा अब तक! बालिकाका लज्जा-भय-शोक दूर कर दीप्ति पाता अम्लान आलोक दुःसह उज्ज्वल। कहाँसे आई आज छलकते आँसुओंमें काँपती-हुई लज्जा, मानो होम-हुताशन-शिखामेंसे निकल आई हो दीप्ति स्निग्ध सुकुमारी, द्रुपद-दुहिताका रूप धर! (सुप्रियके प्रति)—उठो, छोड़ो पाँव, वत्स! आओ, हृदयसे आ लगो। सुख कर रहा है विह्वल मुझे, दुर्भर दुःख-सम। अवसर दो मुझे, देखूँ अपनी प्राण-प्रतिमाका मुख-चन्द्र आज एकान्तमें जा आनन्दपूर्ण क्षणमें। [सुप्रियका प्रस्थान]—(स्वगत) बहुत दिन बाद,—मेरी मालिनीका भाल आज लज्जाकी आभासे हुआ है लाल। कपोल ऊषाके जब अरुण हो उठें तब समझ लेना चाहिए अब देर नहीं सूर्योदयमें। इस रंगीन आभासको देखकर आनन्दसे हृदय मेरा उठा है भर। समझा आज मेरी पुत्री विकसित हो उठी है अब। देवी नहीं यह, दया नहीं यह, घरकी है कन्या यह।

प्रतिहारीका प्रवेश

प्रतिहारी—जय महाराजकी जय! आया है द्वारपर बन्दी क्षेमङ्कर।

राजा—ले आओ उसे।

शृङ्खलाबद्ध क्षेमङ्करका प्रवेश

राजा—दृष्टि है स्थिर, ऊर्ध्व-मस्तक भ्रुकुटीपर मड़रा रहे हैं आँधीके मेघ काले, हिमाद्रि-शिखरपर स्तम्भित श्रावण-सम।

मालिनी—लोहेका शृङ्खल इस देहपर स्वयं अपनी लज्जासे धिक्कृत हो रहा

है, तात ! महत्त्वका अपमान मर रहा है अपमानसे। धन्य मानते हैं अपनेको ये प्राण इन्द्र-तुल्य ऐसी मूर्ति देखकर।

राजा (बन्दीके प्रति)—क्या विधान हुआ है, सुन लिया ?

क्षेमङ्कर—मृत्युदण्ड।

राजा—यदि क्षमा करके दूं प्राण-दान ?

क्षेमङ्कर—फिरसे उठा लूंगा निज कर्तव्य-भार। – जिस मार्गसे चला था फिरसे चलूंगा उसी मार्गपर।

राजा—जीना चाहते ही नहीं किसी तरह, हे ब्राह्मण ! तो, तैयार हो जाओ ममता छोड़ जीवनकी। मांग लो, क्या मांगना है, अन्तिम प्रार्थनाका देता हूं अवसर तुम्हें।

क्षेमङ्कर—और कुछ नहीं, बन्धु सुप्रियको चाहता हूं देखना।

राजा (प्रहरीके प्रति)—बुला लाओ सुप्रियको।

मालिनी—हृदय कांप रहा है छातीमें। न-जाने कौनसी परमाशक्ति है इस मुखपर वज्र-सी भयङ्कर ! रक्षा करो, पिता, न बुलाओ सुप्रियको यहां।

राजा—क्यों, बेटी, शङ्कित होती हो अकारण ? कोई भय नहीं।

क्षेमङ्करके पास सुप्रियका आगमन

क्षेमङ्कर (सुप्रियका आलिङ्गन प्रत्याख्यान करते-हुए)—रहने दो, रहने दो, जो कहना है कह लूं पहले। पीछे होगा प्रणय-सम्भाषण। यहां आओ। जानते हो, सखे, वचनोंका दीन हूं मैं, ज्यादा बात आती नहीं मुझे। समय भी अधिक नहीं,– विचार हो चुका शेष मेरा। अब मैं चाहता हूं तुम्हारा विचार। बताओ मुझे, यह कार्य क्यों किया तुमने ?

सुप्रिय—बन्धु एक है श्रेष्ठतम, आत्माका निश्वास है मेरा वह, और-सब छोड़कर रखा है उसीका विश्वास, प्राण-सखे, वह है धर्म मेरा।

क्षेमङ्कर—जानता हूं, जानता हूं धर्म कौन तुम्हारा है ! वह रहा स्तब्ध मुख सुन्दर अन्तर्ज्योतिमय, वही है मूर्तिमती दैववाणी तुम्हारे लिए राजकन्याके रूपमें ! चतुर्वेदसे छिन्न कर पितृधर्मको इसी नेत्र-वह्निशिखामें दे दी है आहुति तुमने,–यही है धर्म तुम्हारा ! इसी प्रिय मुखपर रचा है नया धर्मशास्त्र तुमने !

सुप्रिय—सत्य समझा है तुमने, सखे ! मेरा धर्म अवतीर्ण हुआ है आज दीन मर्त्यलोकमें, नारी-मूर्ति धारण कर। शास्त्र अब तक थे मेरे लिए अन्ध जीवन-विहीन,– इन्हीं नेत्रोंमें जल रही थी उज्ज्वल जो दीप-शिखा, उसी प्रकाशमें पढ़ा मैंने, विश्वशास्त्रमें जो था लिखा—"धर्म वहीं है जहाँ दया है; धर्म वहीं है जहाँ प्रेम है, स्नेह है : धर्म वहीं है मानव है मानव जहाँ, जहाँ अपना है घर मानवका।" समझ गया, धर्म देना है स्नेह माताके रूपमें, धर्म लेता है स्नेह फिर पुत्रके रूपमें। दाता-रूपमें करता है दान वह, दीनके रूपमें करता है ग्रहण फिर : शिष्यके रूपमें करता है भक्ति वह, गुरुके रूपमें करता है आशीर्वाद ; प्रिया होकर पाषाण-हृदयमें प्रेमका लाना है उत्स खींच, और फिर अनुरक्त हो करता है सर्वस्व त्याग वह। धर्मने डाला है विश्वलोकालयमें चित्त-जाल, निखिल विश्वको खींच रहा है वह नित्य प्रेम-क्रोड़में। उसी महा बन्धनने भर दिये हैं प्राण मेरे, आनन्द-वेदनसे, निहार उस ऊषारुण करुण वदनको। वही है धर्म मेरा।

क्षेमङ्कर—मैंने क्या नहीं देखा उसे ? मैंने भी नहीं सोचा क्या क्षण-भरके नशेमें आ, आया है अनादि-धर्म नारी-मूर्ति धरके, कठिन पुरुष-मनको छीन ले जाना चाहता है स्वर्गकी ओर वह ? क्षण-भरके लिए मुग्ध हृदयमें क्या नहीं आया मेरे भी स्वप्नावेश ? अपूर्वसङ्गीतसे छातीकी पसलियाँ मेरी भी रो उठी थीं सहस्र वंशीकी ध्वनि-सम,–सर्व सफलता, मेरे जीवनकी यौवनकी आशा-कल्पलता लिपट-लिपटकर मेरे हृदयमें पत्र-पुष्पसे मञ्जरित हो उठी थी मानो, सखे, एक ही क्षणमें। तो भी, क्या नहीं तोड़ फेंका मैंने बलसे मायाके बन्धनको, गया नहीं क्या चला देश-देश द्वार-द्वारपर माँगने भीख मैं ? माथेपर लिया नहीं क्या मैंने हीन-हस्तका घोर अपमान,–सहा नहीं क्या मैंने अहोरात्र आजन्मके बन्धुका विच्छेद ? सिद्धि जब आ रही थी, पहना रही थी जयमाला बन्धुके कण्ठमें, तुमने तब यहाँ बैठ किया क्या,– राजगृहमें सुखालसमें पड़े-पड़े कौनसा धर्म सृजन किया, मन-चाहे इस दीर्घ अवसरमें ?

सुप्रिय—ओ बन्धु, यह विश्व क्या विशाल नहीं ? नहीं क्या असंख्य जन इसमें विचित्र स्वभावके ? किसको क्या प्रयोजन है, तुम क्या जानते हो

सब ? गगनमें असंख्य तारे हैं, रात-दिन विवाद क्या करते हैं वे, क्षमङ्कर ? ऐसे ही जलाकर ज्योति अपनी कितने धर्म जाग रहे हैं यहाँ, जागने दो उन्हें, इसमें है हानि क्या ?

क्षेमङ्कर— अब व्यर्थ है यह वाक्यजाल, मित्र ! समाप्त हो रहा है समय, बातोंका यह झूठा खेल व्यर्थ है, व्यर्थ है तर्क सारा। शत-सहस्र सत्य-मिथ्या आस-पास बने रहें बिना-विरोधके, – इतना स्थान नहीं इस अनन्त संसारमें। अन्नके रूपमें धान्य जहाँ उगता है वहाँ बोओगे चिर-दिन कण्टक नवीन तुम, बन्धु मेरे ! प्रेम इतना नहीं सर्वप्रेमी। था चिरकालका विश्वस्त गाढ़ प्रेम जहाँ वहाँ लाओगे विश्वासघात, बिठाओगे उसे बन्धुकी छातीपर, बन्धु मेरे, उदारता ऐसी क्या उदार है ! कोई तो मर मिटे धर्मके लिए सहके अत्याचार-पीड़न अकालमें अस्थानमें चोरोंके समान, और, कोई धर्मके व्रतको करके निष्फल जीयेगा सुखसे, सम्मानसे ! यह धरणीतल ऐसा विपरीत धर्म वहन कर सके, इतना सुदृढ़ नहीं वक्ष इसका,– नहीं, कदापि नहीं।

सुप्रिय (मालिनीकी तरफ मुड़कर)—हे देवी, तुम्हारी ही जय हुई ! अपने करकमलोंसे जो पवित्र शिखा तुमने जलाई है मेरे अन्तस्तलमें, आज हो गई परीक्षा उसकी, तुम्हीं हुई जयी ! समस्त अपमान-भार, सम्पूर्ण निष्ठुर घात करता हूं ग्रहण आज। रक्त उच्छ्वसित हो उठता है उत्सकी भाँति यहाँ विदीर्ण हृदयसे,– तो भी समुज्ज्वल है तुम्हारी शान्ति, तुम्हारी प्रीती, देवी ! तुम्हारी मंगलमय अम्लान अचल दीप्ति आज बिराज रही है सर्वोच्च आसनपर। भक्तकी परीक्षा हो गई आज, – जय देवीकी जय ! (क्षेमङ्करकी ओर मुड़कर) क्षेमङ्कर, तुम दोगे प्राण,– अपने धर्मके लिए मैंने किया है दान प्राणोंसे भी अधिक प्रिय तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा विश्वास। उसके आगे प्राण-भय तुच्छ है सौ-सौ बार।

क्षेमङ्कर—छोड़ो यह प्रलाप-वाणी ! मृत्यु जो है उसीको मैं धर्मराज जानता हूँ,– धर्मकी परीक्षा होगी उन्हींके आगे। बन्धुवर, आओ, आ जाओ पास मेरे, पकड़ो मेरा हाथ, चलो हम दोनों मिलके चलें एकसाथ वहाँ,– याद है, जैसे बचपनमें कितने ही दिन रात-भर करके तर्क, अन्तमें सवेरे जाते थे

दोनों मिल गुरुके पास, सत्यासत्य निर्णय कराने, कौन सच्चा है और कौन झूठा, याद है ! वैसा ही प्रभात हो आज । समस्त संशय आज ले चलें हम असंशय धामको, खड़े हों चलके मृत्युके दोनों बगल, दाहने और बायें दोनों सखा हम, लेकर अपनी-अपनी शंकाएँ और प्रश्न सब । जहाँ प्रत्यक्ष सत्य उज्ज्वल उन्नत है,—क्षणमें उड़कर दूर हो जायेगा वहाँ पर्वत-सम विचार-विरोध वाष्प सम ! दोनों अबोध हम आनन्दमें हँसा करेंगे देख-देख परस्परको ! सबसे बड़ा आज समझते हो जिसे, उसे छोड़ो यहीं, देखो मृत्युको सामने !

सुप्रिय—बन्धु, ऐसा ही हो !

क्षेमङ्कर—तो आओ, आओ, लगो आ छातीसे ! बहुत दूर चले गये थे, मित्र, आओ पास अब,—यहाँ विच्छेद न होगा अनन्त काल तक । तो लो, ग्रहण करो बन्धुके हाथका करुण विचार शेष, —यह लो !

क्षेमङ्कर शृङ्खलसे सुप्रियके मस्तकपर आघात करता है और सुप्रिय जमीनपर गिर जाता है

सुप्रिय—देवी, जय है तुम्हारी ही !

सुप्रियकी मृत्यु हो जाती है

क्षेमङ्कर (मृत देहपर पड़कर)—अब बुलाओ,— बुलाओ घातकको !

राजा (सिंहासन छोड़कर)—कौन है ! लाओ खड्ग लाओ शीघ्र ही !

मालिनी—क्षमा करो, महाराज, क्षेमङ्करको क्षमा कर दो ।

[मूर्च्छित हो जाती है

बंगला-रचना : आश्विन १९५३

हिन्दी-अनुवाद : भाद्र २००६

दादा साहब

'नयनजोड़के बाबू'

१

नयनजोड़के जमींदार किसी जमानेमें रईसोंमें 'बाबू' नामसे विशेष रूपसे प्रसिद्ध थे। उस समयकी 'बाबूगीरी' यानी रईसीका आदर्श कोई मामूली बात नहीं थी। आजकल जैसे 'राजा-बहादुर' का खिताब पानेके लिए बहुतसे नाच, पार्टियाँ, घुड़दौड़ और सलाम-सिफारिशोंका श्राद्ध करना पड़ता है, उस जमानेमें भी वैसे ही जनसाधारणसे 'बाबू' उपाधि पानेके लिए यथेष्ट दुःसाध्य तपश्चरण करना पड़ता था।

हमारे नयनजोड़के बाबूलोग ढाकेकी धोती भी पहनते थे तो किनारी फाड़कर। कारण उसकी किनारीकी कर्कशतासे उनकी सुकोमल रईसी व्यथित हो उठती थी। वे लाख रुपया खर्च करके बिल्लीके बच्चोंकी शादी किया करते थे; और कहनावत है कि एक बार किसी उत्सवके समय 'रातको दिन' करनेकी प्रतिज्ञा पूरी करनेमें इनलोगोंने सूर्यके अनुकरणपर बत्तियों और सच्चे गोटोंकी वर्षाका ऐसा समाँ बाँध दिया था कि लोग देखकर दंग रह गये।

इसीसे समझा जा सकता है कि ऐसे रईसोंकी रईसी आगेकी पीढ़ियों तक चलना कितना मुश्किल था। बहुत-सी बत्तियोंवाले दीपकी तरह ये लोग अपना तेल आप ही धूमधामसे जलाकर थोड़े ही समयमें बुझ जाया करते थे।

हमारे बाबू कैलासचन्द्र राय-चौधरी नयनजोड़के उस प्रख्यातयश रईस खानदानके एक बुझे-हुए 'बाबू' हैं। ये जब पैदा हुए थे, तेल तब प्रदीपके तले तक पहुंच चुका था। और, इनके पिताकी मृत्यु होनेपर नयनजोड़की बाबूगीरी कईएक असाधारण श्राद्ध-शान्तिमें अपनी अन्तिम दीप्ति प्रकट करके सहसा बुझ गई। सारी जमींदारी और जेवर-जवाहरात वगैरह सब-कुछ कर्जमें बिक गया; और, जो-कुछ थोड़ा-बहुत बाकी-बचा उससे पूर्वपुरुषोंकी ख्याति बनाये रखना असम्भव हो गया।

इसलिए, कैलास बाबूको नयनजोड़ छोड़कर अपने पुत्रके साथ कलकत्ता आकर रहना पड़ा ; और, कुछ दिन बाद, पुत्र भी अपनी एक लड़की और इस हतगौरव परिवारको छोड़कर परलोक सिधार गया ।

हम उनके कलकत्ताके पड़ोसी हैं । हमारा इतिहास उनसे बिलकुल ही उलटा है । मेरे पिताने अपने परिश्रमसे रुपया पैदा किया था ; वे कभी भी घुटनोंसे नीची धोती नहीं पहनते थे, एक-एक पैसेका हिसाब रखते थे ; और 'बाबू' उपाधि प्राप्त करनेकी उन्हें लालसा नहीं थी । इसके लिए मैं, उनका एकमात्र पुत्र, उनका कृतज्ञ हूं और रहूंगा । मैं जो पढ़-लिखकर शिक्षित बन गया हूं, और, अपने प्राण और मानकी रक्षाके योग्य 'काफी पैसा' बिना कोशिशके पा गया हूं, बस यही मेरे लिए परम गौरवका विषय है । शून्य भण्डारकी पैत्रिक 'रईसी' के उज्ज्वल इतिहासकी अपेक्षा लोहेके सन्दूकमें रखे प्रोमेसरी और करेन्सी-नोट मेरे लिए बहुत ज्यादा कीमती हैं ।

शायद इसीलिए, कैलास बाबू अपने पूर्व-गौरवकी देवालिया बेङ्कपर जब मनमाने लम्बे-चौड़े 'चेक' काटा करते थे, तब मुझे वह बहुत ही असह्य मालूम होता था । मुझे ऐसा लगता कि मेरे पिताने अपने हाथसे रुपया कमाया है इसलिए कैलास बाबू शायद मन-ही-मन हमारे प्रति अवज्ञा करते हैं । मैं नाराज हो जाता और सोचता, 'दोनोंमेंसे अवज्ञाके योग्य कौन है ? जिस आदमीने जीवन-भर कठोर त्याग स्वीकार करके, लौकिक प्रशंसा और नाना प्रलोभनोंकी उपेक्षा करके, अभ्रान्त और सतर्क बुद्धि-कौशलसे समस्त प्रतिकूल बाधाओंको जीतकर और समस्त अनुकूल अवसरोंको अपने काममें लाकर एक-एक चाँदीकी सिल चुनकर सम्पदाका एक ऊंचा 'पिरामिड' अकेले अपने हाथसे रच डाला है, वह, सिर्फ एक इसी वजहसे कि उसने घुटनोंसे नीची धोती नहीं पहनी, साधारण आदमी हरगिज नहीं हो सकता ।'

तब मेरी उमर कम थी, इसीलिए ऐसी बहस किया करता था और नाराज हुआ करता था ; अब उमर ज्यादा हो गई है, अब सोचता हूँ, इसमें हर्ज ही क्या है । मेरे पास तो काफी सम्पत्ति है, मेरे किस बातकी कमी ? जिसके पास कुछ भी नहीं है वह अगर अहङ्कार करके सुखी हो, तो उसमें मेरा तो

एक दमड़ीका भी नुकसान नहीं, बल्कि उस बेचारेको सान्त्वना मिलती है तो मिलने दो।

यह भी देखा गया कि मेरे सिवा और-कोई कैलास बाबूपर नाराज नहीं होता। कारण, इतना बड़ा निरीह व्यक्ति साधारणतः देखनेमें नहीं आता। क्रिया-कर्म और सुख-दुःखमें पड़ोसियोंसे उनका पूरा सम्पर्क था। बच्चेसे लेकर बूढ़े तक सभीसे, भेंट होते ही, वे हँसते-हुए प्रिय-सम्भाषण करते, और जिसका जहाँ जो-कोई भी होता, सबकी कुशल पूछते, तब कहीं उनकी शिष्टता विराम लेती। यही वजह है कि किसीकी उनसे भेंट होते ही तुरत लम्बी प्रश्नमालाकी सृष्टि हो जाती, 'मजेमें ? शशी अच्छी तरह है ? बड़े बाबूकी तबीयत ठीक है ? मधुके लड़केको बुखार आ गया था सुना था, अब तो ठीक है न ? हरिचरण बाबूको बहुत दिनोंसे नहीं देखा, उन्हें कोई तकलीफ तो नहीं है ? तुम्हारे राखालका क्या हाल है ? और, घरमें बाल-बच्चे तो सब मजेमें हैं ?' इत्यादि।

कैलास बाबूका रहन-सहन बड़ा साफ-सुथरा है। कपड़े उनके पास ज्यादा नहीं थे, लेकिन अपनी मिरजई, चादर, अंगरखा, यहाँ तक कि रजाई और तकियोंके लिहाफ, एक पुराना पलंगपोश और एक छोटी-सी पुरानी दरी तकको वे अपने हाथसे झाड़-पोंछकर धूपमें सुखाकर इस तरीकेसे सजाकर रखते कि मालूम होता कि इन-सब चीजोंपर चौबीसों घण्टे नौकरोंका हाथ पड़ता रहता है। जब भी उन्हें देखता तभी ऐसा मालूम होता कि अभी-अभी खानसामा उन्हें कपड़े पहना गया है। घरमें असबाब बहुत थोड़ा था, फिर भी उनका घर-द्वार हरवक्त उज्ज्वल बना रहता। ऐसा मालूम होता जैसे उनके पास और-भी बहुत है।

नौकरके अभावमें अकसर वे घरका दरवाजा बन्द करके अपने हाथसे धोती चुना करते ; और, दुपट्टा और कुरतेकी आस्तीनमें बड़े जतनसे चुन्नट डाला करते। उनकी बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ और बहुमूल्य सम्पत्तियाँ लुप्त हो चुकी थीं, किन्तु एक बेशकीमती गुलाबपाश और अतरदान, एक सोनेकी रकाबी, एक चाँदीका अलबेला, एक बेशकीमती दुशाला और पुराने जमानेका

जामा और पगड़ी – इतनी चीजें उन्होंने बड़ी कोशिशसे गरीबीके ग्राससे बचा ली थीं। कोई भी मौका आता तो ये सब चीजें निकलतीं और नयनजोड़के जगद्विख्यात रईस-बाबुओंके गौरवको बचा लेतीं।

वैसे कैलास बाबू बहुत ही भद्र और भले-मानस हैं ; किन्तु अपनी बातोंमें वे जो अहङ्कार प्रकट करते वह पूर्वपुरुषोंके प्रति महज अपना फर्ज अदा करनेके लिए ही करते : और सभी-कोई उसे पसन्द करते और विशेष आनन्द पाते।

मुहल्लेके लोग उन्हें 'दादा साहब' कहा करते ; और उनके यहाँ प्रायः हरवक्त कुछ लोग बने ही रहते : किन्तु गरीबीमें कहीं उनका तम्बाकूका खर्च न बढ़ जाय इस खयालसे अकसर मुहल्लेका कोई-न-कोई दो-एक सेर तम्बाकू ले आता और उनसे कहता, "परीक्षा तो कर देखिये, दादा सा'ब, गयाजीसे तम्बाकू मंगाई है, कैसी है !"

दादा साहब दो-एक कश खींचकर कहते, "तम्बाकू तो अच्छी है, भाई !" और साथ ही साठ-पैंसठ रुपये तोलेकी तम्बाकूका किस्सा छेड़ देते और पूछते कि 'कोई उस तम्बाकूका मजा लेना चाहता है या नहीं ?'

सभी जानते थे कि कोई मजा लेनेकी इच्छा प्रकट करेगा भी, तो जरूर उन्हें चाभी ढूँढ़े न मिलेगी, या बहुत खोज करनेके बाद वे कहेंगे कि 'गनेसा नालायक कब कहाँ चीज पटक देता है, कोई ठीक नहीं।' गणेश उनका पुराना नौकर है : और वह उनकी हर बातको बिना-विरोधके मान लेता है। और इसलिए सब-कोई एकसाथ स्वीकार कर लेते कि 'नहीं, जरूरत नहीं, हम लोगोंसे वह नहीं झिलनेकी।' सुनकर दादा साहब जरा मुस्कराकर चुप रह जाते। और जब सब जाने लगते, तो दादा सा'ब उठकर कहते, "तो चल दिये, खैर, अब तुमलोग हमारे यहाँ खाना-पीना कब करोगे सो बताओ ?"

तुरत सबके सब जवाब देते, "खाने-पीनेकी क्या बात है, दादा सा'ब, जब चाहें खा-पी लेंगे। अब फिर किसी दिन देखा जायगा।"

दादा साहब कहते, "अच्छी बात है, जरा वर्षा होने दो, ठंडा हो जाय, नहीं तो ऐसी गरममें गरिष्ठ भोजनमें कुछ आनन्द नहीं आनेका।"

जब वर्षा होती तब दादा सा'बको कोई उनकी प्रतिज्ञा याद नहीं दिलाता,

बल्कि बात छिड़नेपर लोग यही कहते कि 'बरसात बन्द हुए बिना कोई मजा नहीं आनेका।'

दादा सा'बके मिलने-जुलनेवाले सब उनके सामने इस बातको मान लिया करते कि इस छोटेसे मकानमें रहना उनके लिए बड़ा कष्टकर है और इस विषयमें भी किसीको कोई सन्देह न था कि कलकत्तामें उनके लायक मकान मिलना, जिसे वे खरीद सकें, बहुत कठिन है। यहाँ तक कि आज छै-सात सालसे ढूँढ़-ढूँढ़ कर हैरान होनेपर भी आज तक मुहल्लेके किसीको नहीं मिला। अन्तमें दादा साहब कहते, "खैर, कोई बात नहीं,– तुमलोगोंके पास बना हुआ हूं, इसीमें मुझे आराम है। नयनजोड़में तो हवेली मौजूद ही है,– पर वहाँ मन कहाँ टिकना है!"

मेरा तो विश्वास है कि दादा सा'ब भी जानते थे कि सबको उनकी अवस्था मालूम है; और जब वे भूतपूर्व नयनजोड़को वर्तमान समझनेका छल करते, और, और-सब लोग भी उसमें शरीक होते, तब वे मन-ही-मन समझ जाते कि परस्परकी यह छलना केवल एक दूसरेके प्रति सौहार्दकी खातिर ही है।

लेकिन, मुझे यह बात बहुत बुरी मालूम होती। कम उमरमें दूसरेके निरीह गर्वको दमन करनेकी भी इच्छा होती है और हजारों बड़े अपराधोंकी तुलनामें निर्बुद्धिता ही सबसे बढ़कर असह्य मालूम होती है। पर, कैलास बाबू ठीक निर्बोध नहीं थे, काम-काजमें उनकी सहायता और सलाहकी लोग कदर करते थे। किन्तु नयनजोड़का गौरव प्रकट करते वक्त उनमें जरा भी होश बाकी नहीं रह जाता। सब-कोई उनसे प्रेम रखते थे और इसीसे खुशी-खुशी उनकी सभी असम्भव बातें बिना प्रतिवादके सुन लिया करते थे; किन्तु, खुद उनमें जरा भी मात्रा-ज्ञान नहीं, और इसलिए वे अपनी बातोंकी हदकी रक्षा नहीं कर पाते। यहाँ तक कि दूसरे लोग भी जब हँसी-हँसीमें या उन्हें खुश करनेकी गरजसे नयनजोड़की प्रशंसामें विपरीत-मात्रामें अत्युक्ति करना शुरू कर देते, तब भी वे उसे चुपचाप स्वीकार कर लेते; और स्वप्नमें भी ऐसा सन्देह न करते कि और-कोई इन सब बातोंपर जरा भी सन्देह कर सकता है।

मेरी कभी-कभी ऐसी इच्छा होती कि यह वृद्ध जिस झूठे दुर्गमें रह रहा

है और यह समझ रहा है कि वह चिरस्थायी है, उस दुर्गको सबके सामने मैं तोपसे उड़ा दूँ। किसी पक्षीको अपने लक्ष्यके सुभीतेकी डालीपर बैठा देखते ही शिकारीका जैसे जी चाहता है कि तुरत उसे गोलीका निशाना बना ले, और किसी पहाड़पर कोई पतनोन्मुख पत्थर देखते ही बालककी जैसे इच्छा होती है कि वह उसे लातसे नीचे लुढ़का दे, ठीक वैसे ही उनका बना-बनाया खेल बिगाड़नेके लिए मेरा मन फड़फड़ाता रहता। कैलास बाबूके 'असत्य' इतने सरल थे, उनकी बुनियाद इतनी खोखली थी और वे सत्य-बन्दूकके ठीक सामने आकर ऐसे नाचा करते थे कि उन्हें क्षणमें विनष्ट करनेके लिए मेरे मनमें एक तरहका प्रबल आवेग उपस्थित होता : किन्तु, आलस्य और सर्वजन-सम्मत प्रथाका खयाल करके मैं चुप रह जाता।

२

अपने अतीत मनोभावोंका विश्लेषण करके जहाँ तक मुझे याद आता है उससे मैं समझता हूं कि कैलास बाबूके प्रति मेरे आन्तरिक विद्वेषका और एक गूढ़ कारण था। उसे जरा विस्तारके साथ कह देना आवश्यक है।

मैंने, बड़े-आदमीका लड़का होते हुए भी, यथासमय एम० ए० पास किया है ; यौवन होते-हुए भी किसी कुसङ्गतमें पड़कर कुत्सित आमोद-प्रमोदमें भाग नहीं लिया ; और अभिभावकोंकी मृत्युके बाद स्वयं सर्वेसर्वा होनेपर भी मेरे उस स्वभावमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं आई। इसके सिवा, मेरा स्वास्थ्य और चेहरा ऐसा है कि उसे अपने मुँहसे अगर सुन्दर कहूं तो वह अहङ्कार हो सकता है किन्तु असत्य हरगिज नहीं।

लिहाजा, हमारे इस देशमें, ब्याहके बाजारमें मेरी कीमत बहुत ज्यादा है, इसमें सन्देहकी कोई गुँजाइश ही नहीं ; और उस बाजारमें मैं अपनी पूरी कीमत वसूल कर लूँगा, ऐसी मेरी दृढ़ प्रतीज्ञा थी। स्पष्ट है कि किसी धनी पिताकी परम रूपवती एकमात्र विदुषी कन्या मेरी कल्पनामें आदर्श-रूपमें विराज रही थी।

मेरे लिए दस-दस हजार और बीस-बीस हजार रुपयेके दहेजोंके नाना प्रस्ताव इधर-उधरसे आने लगे। मैं अविचलित-चित्तसे काँटेपर उन सबकी योग्यताका वजन देख रहा था। किन्तु कोई भी प्रस्ताव मुझे अपने योग्य नहीं मालूम हुआ। अन्तमें भवभूतिकी तरह मेरी भी धारणा हो गई कि 'शायद कहीं लिया होगा जन्म मेरी प्रियाने, समय असीम है और वसुधा भी है विशाल।'

किन्तु, वर्तमान-काल और क्षुद्र वंगप्रदेशमें वह असम्भव दुर्लभ वस्तु पैदा हुई है या नहीं, इसमें सन्देह है।

कन्यादायग्रस्तोंका समूह प्रतिदिन नाना छन्दोंमें मेरी स्तुति और विविध उपचारोंसे मेरी पूजा करने लगा। कन्या पसन्द आये या न आये, उनकी यह पूजा मुझे बुरी नहीं मालूम होती थी। 'अच्छा लड़का' होनेकी खातिर कन्याके पिताओंकी यह पूजा मेरे लिए उचित-प्राप्य है, यह मैं तय ही कर चुका था। शास्त्रोंमें है, 'देवता वर दें चाहे न दें, यथाविधि पूजा अगर उन्हें नहीं मिली तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं।' नियमित पूजा पाते-पाते मेरे मनमें भी वैसा ही एक अत्युच्च देव-भाव जाग्रत हो उठा था।

पहले ही कह चुका हूं कि दादा साहबके एक पौत्री है। उसे मैंने बहुत बार देखा है, किन्तु कभी भी मुझे वह रूपवती नहीं मालूम हुई। लिहाजा, उससे ब्याह करनेकी कल्पना भी कभी मेरे मनमें नहीं आई। पर, मन ही मन इतना मैंने जरूर सोच रखा था कि किसी दिन कैलास बाबू स्वयं आकर या अन्य किसीके मारफत मुझे अपनी पौत्रीका अर्घ्य भेंट करनेकी मनसासे, मेरी पूजाका बोधन अवश्य करेंगे : क्योंकि मैं 'अच्छा लड़का' हूं। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

एक दिन, सुना कि मेरे किसी मित्रसे उन्होंने कहा है कि 'नयनजोड़के रईस कभी भी किसी विषयमें खुद आगे बढ़कर किसीके पास प्रार्थना करने नहीं जाते। कन्या यदि चिरकुमारी भी रह जाय, तो भी वे उस प्रथाको तोड़ नहीं सकते।' बात सुनकर मेरे नीचेसे ऊपर तक आग लग गई। वह आग बहुत दिनोंसे मेरे मनमें सुलग रही थी ; पर, चूँकि मैं 'अच्छा लड़का' ठहरा, इसलिए चुप रहा।

वज्रके साथ जैसे बिजली रहती है, उसी तरह मेरे चरित्रमें क्रोधके साथ-साथ एक तरहकी कौतुकप्रियता भी मौजूद थी। वृद्ध सज्जनको पीड़ा पहुंचाना मेरे द्वारा सम्भव न होता : किन्तु एक दिन सहसा ऐसा एक कौतुकपूर्ण प्लैन मेरे मगजमें आया कि उसे वास्तवमें परिणत करनेका प्रलोभन मुझसे रोके न रुका। यह मैं पहले ही कह चुका हूं कि उस 'बाबू' वृद्धको खुश करनेके लिए लोग नाना प्रकारकी झूठी बातें बनाया करते थे। मुहल्लेके एक पेन्शनयाफ्ता डिप्टी मजिस्ट्रेट अकसर कहा करते थे, "दादा साहब, छोटे लाटके साथ जब भी मेरी मुलाकात होती है, तो वे नयनजोड़के रईस - बाबुओंकी खबर-सुध पूछे बगैर नहीं रहते। वे कहा करते हैं, 'बंगालमें वर्धमानके राजा और नयनजोड़के रईस-बाबू इन्हीं दोनोंका खानदान पुराना है'।'

दादा साहब बड़े खुश होते : और भूतपूर्व डिप्टी साहबसे भेंट होते ही और-और कुशल-संवादके साथ पूछ लेते, "छोटे लाट साहब मजेमें हैं ? उनकी मेम साहब और बाल-बच्चे सब अच्छी तरह हैं न ?" और ऐसी इच्छा भी जाहिर करते कि मौका लगते ही वे जल्दी ही उनसे मिलने जायेंगे। किन्तु भूतपूर्व डिप्टी साहब यह निश्चित जानते थे कि नयनजोड़की सुप्रसिद्ध 'चार घोड़ेकी बग्घी' दादा साहबके दरवाजे तक आते-आते कितने ही छोटे और बड़े लाट बदल जायेंगे।

मैंने एक दिन सवेरे कैलास बाबूके घर जाकर उन्हें एकान्तमें बुलाकर चुपकेसे कहा, "दादा साहब, कल मैं लेफ्टेनेण्ट गवर्नरकी 'लेवी' (दरबार) में गया था। उन्होंने नयनजोड़के बाबुओंकी बात छेड़ी तो मैंने कहा, 'नयनजोड़के कैलास बाबू कलकत्तेमें ही हैं।' सुनकर वे बड़े पछताने लगे कि अब तक वे आपसे मिल नहीं सके। बोले, 'कल ही दोपहरको मैं गुप्तरूपसे जाकर उनसे मिलूंगा।' मेरा खयाल है, आज वे जरूर आयेंगे।"

और-कोई होता, तो मेरी बातकी असम्भवता समझ जाता ; और यह बात और-किसीके सम्बन्धमें होती तो वे हँसीमें उड़ा देते, किन्तु अपने संबंधमें होनेसे इस बातपर उन्हें जरा भी सन्देह नहीं हुआ। सुनकर वे जैसे खुश हुए वैसे चञ्चल भी हो उठे। उन्हें कहाँ बिठायेंगे, क्या करेंगे, कैसे खातिरदारी

करेंगे, क्या करनेसे नयनजोड़के गौरवकी रक्षा होगी, इन बातोंका वे किसी भी तरह निर्णय न कर सके। इसके सिवा, वे अंगरेजी नहीं जानते, बात कैसे करेंगे, यह भी एक समस्या थी।

मैंने कहा, "इसकी चिन्ता न करें। उनके साथ हमेशा एक दुभाषिया रहता है। लेकिन उनकी यह खास इच्छा है कि आपसे वे अकेलेमें मिलें।"

३

दोपहरको मुहल्लेके अधिकांश लोग जब कि अपने-अपने कामपर चले गये थे और बाकी-बचे लोग दरवाजा बन्द करके सो रहे थे, तब कैलास बाबूके घरके सामने एक शानदार बग्गी आकर ठहरी।

तगमावाले चपरासीने आकर खबर दी, "हुजूर, छोटे लाट बहादुरकी सवारी आई है।" दादा साहब प्राचीनकालमें प्रचलित सफेद चूड़ीदार पाजामा अचकन पगड़ी वगैरह पहने तैयार बैठे थे, और साथ ही अपने पुराने नौकर गणेशको भी उन्होंने अपने कपड़े पहनाकर ठीकठाक कर रखा था। छोटे लाटके आनेकी बात सुनते ही वे हाँफते और काँपते-हुए दरवाजेके बाहर जा पहुँचे; और झुक-झुककर बार-बार सलाम करते-करते वे अंगरेज वेशधारी मेरे एक मित्रको सम्मानके साथ भीतर ले गये।

वहाँ एक चौकीपर उन्होंने अपना एकमात्र कीमती दुशाला बिछा रखा था, उसपर कृत्रिम छोटे लाटको बिठाकर उर्दूमें उन्होंने एक अतिविनीत लम्बा भाषण पढ़ सुनाया, और फिर नजरकी तौरपर सोनेकी रकाबीमें बहुकष्टसे रक्षित कुलक्रमागत अशरफियोंका एक हार उन्हें भेंट किया, और पुराना नौकर गणेश भी गुलाबपाश और अतरदान लेकर अतिथिकी खिदमतमें आ खड़ा हुआ।

कैलास बाबू बार-बार पश्चात्ताप करने लगे कि उनकी नयनजोड़की हवेलीमें हुजूर-बहादुरकी चरण-रज पड़ती तो वहाँ वे यथासाध्य यथोचित आतिथ्यका आयोजन कर सकते थे, कलकत्तेमें वे प्रवासी हैं, यहाँ वे बिना-पानीकी मछलीकी तरह सभी विषयोंमें लाचार हैं, इत्यादि।

मेरे मित्र अत्यन्त गम्भीरताके साथ हैट-समेत अपना मस्तक हिलाने लगे। अंगरेजी कायदेके अनुसार ऐसे स्थलपर सिरपर टोप नहीं रहना चाहिए, किन्तु मेरे मित्रने पकड़ाई देनेके डरसे यथासम्भव ढके रहनेमें ही भलाई समझकर हैट नहीं खोला। कैलास बाबू और उनके गर्वान्ध प्राचीन नौकरके सिवा और कोई भी व्यक्ति भारतीयका यह छद्मवेश ताड़ सकता था।

आठ-दस मिनट तक सिर हिलानेके बाद मेरे मित्र उठ खड़े हुए; और पूर्व-शिक्षानुसार चपरासियोंने सोनेकी रकाबी-समेत अशर्फियोंका हार, चौकीपर बिछा-हुआ दुशाला और नौकरके हाथसे गुलाबपाश और अतरदान लेकर छद्मवेशीकी बग्घीमें रख दिया। कैलास बाबूने समझा कि छोटे लाटका यही कायदा होगा। मैं बगलके कमरेमें छिपा-हुआ सब देख रहा था, और अपनी रुकी-हुई हँसीके आवेगसे मेरा पेट फटा जा रहा था।

अन्तमें जब मुझसे बिलकुल ही नहीं रहा गया तो दौड़कर दूरके एक कमरेमें घुस गया, और वहाँ हँसीका उच्छ्वास छोड़ते ही सहसा देखा कि एक लड़की तख्तपर औंधी पड़ी फूट-फूटकर रो रही है!

सहसा मुझे कमरेमें घुसकर हँसते देख वह उसी क्षण बिस्तर छोड़कर उठ खड़ी हुई; और आँसुओंसे रुँधे-हुए कण्ठमें रोषका गर्जन लाकर, मेरे मुँहपर अपनी सजल विशाल काली आँखोंसे सुतीक्ष्ण बिजली-सी गिराती-हुई बोली, "मेरे दादाजीने तुमलोगोंका क्या बिगाड़ा है? क्यों तुमलोग उन्हें इस तरह धोखा दे रहे हो, यहाँ क्यों आये हो तुमलोग?" और अन्तमें जब और कोई बात न सूझी तो वह वाक्‌रुद्ध होकर मुँहमें कपड़ा देकर रो उठी।

कहाँ गया मेरा वह हास्यावेग? मैंने जो-कुछ किया है उसमें महज एक मजाकके सिवा और भी कुछ था, यह बात अब तक मेरे दिमागमें नहीं आई, किन्तु अब सहसा देखा कि मैंने अत्यन्त कोमल स्थलपर अत्यन्त कठोर आघात किया है। लज्जा और अनुतापसे पदाहत कुत्तेकी तरह मैं चुपचाप कमरेसे बाहर निकल आया। भोलेभाले वृद्धने मेरा क्या बिगाड़ा था? उनके निरीह अहङ्कारने तो कभी किसी प्राणीको चोट नहीं पहुंचाई। फिर मेरे अहङ्कारने क्यों ऐसी हिंस्र-मूर्ति धारण की?

इसके सिवा और-एक विषयमें आज सहसा मेरी आँखें खुल गईं। अब तक मैं कुसुमको किसी अविवाहित पात्रके प्रसन्न-दृष्टिपातकी प्रतीक्षामें संरक्षित पण्य-वस्तुकी तरह ही देखता आया था : और सोचता था कि मेरे पसन्द न आनेसे ही वह पड़ी-हुई है, दैवसे जिसे वह पसन्द आयेगी वह उसीकी होगी। किन्तु आज मैंने देखा कि इस छोटेसे घरके कोनेमें इस बालिकाके भीतर एक कोमल मानव-हृदय विराज रहा है। अपना सुख-दुःख और अनुराग-विराग लिये-हुए एक अन्तःकरण, एक ओर अक्षय 'अतीत' और दूसरी ओर अकल्पनीय 'भविष्य' नामक दो अनन्त रहस्य-राज्योंकी ओर पूर्व और पश्चिममें फैला-हुआ है। जिस मनुष्यमें हृदय है वह क्या सिर्फ सौदाका ही धन है, वह क्या सिर्फ आँख-नाक नापकर पसन्द कर लेनेके ही योग्य है?

उस दिन, रात-भर मुझे नींद नहीं आई। दूसरे दिन तड़के ही उठकर, उस भद्र वृद्धकी सारी चुराइ-हुई कीमती चीजें लेकर, चोरकी तरह मैं दबे-पाँव दादा साहबके घर पहुँचा, — इच्छा थी कि किसीसे कुछ न कहके छिपे-छिपे नौकरके हाथ सब दे आऊं।

मैं नौकरकी तलाशमें इधर-उधर झाँक ही रहा था कि इतनेमें पासके कमरेमें दादा और नातिनीकी बातचीत सुन पड़ी। नातिनी मीठे स्वरमें बड़े स्नेहके साथ पूछ रही थी, "दादा सा'ब, कल लाट साहबने तुमसे क्या कहा था?"

जवाबमें दादाने अत्यन्त हर्षित चित्तसे जो-कुछ कहा, उसका सार यह था कि 'लाट साहब नयनजोड़के पुराने रईस-खानदानकी बहुत ही तारीफ कर रहे थे।' और लड़की उनकी बातें सुन-सुनकर अत्यन्त आनन्द और उत्साह प्रकट कर रही थी।

अपने वृद्ध अभिभावकके प्रति मातृहृदया उस छोटीसी बालिकाकी सकरुण छलनासे मेरी दोनों आँखें भर आईं। बहुत देर तक मैं चुपचाप खड़ा रहा। अन्तमें दादा जब अपना किस्सा खतम करके चले गये, तो अपनी प्रतारणाका सारा सामान लेकर मैं कुसुमके सामने जा खड़ा हुआ; और चुपचाप सामान रखकर वहाँसे चला आया।

वर्तमान कालके नियमानुसार और-और दिन वृद्धको देखकर मैं किसी तरहका शिष्टाचार या अभिवादन न करता था ; किन्तु आज मैंने उन्हें प्रणाम किया। दादाने जरूर यह सोचा होगा कि कल छोटे लाट साहब उनके घर आये थे यह देखकर ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गई है। वे पुलकित होकर शतमुखसे छोटे लाटका मनगढ़ा किस्सा सुनाने लगे। मैं भी किसी तरहका विरोध न करके चुपचाप सब सुनने लगा। बाहरके अन्य लोगोंने जो ये सब बातें सुनीं तो उन्होंने इस घटनाको आद्योपान्त 'कल्पित कहानी' ठहरा दिया, और महज मजाक समझकर दादा साहबकी सभी बातोंमें हाँमें हाँ मिलाते चले गये।

जब सब उठकर चले गये तो मैंने अत्यन्त लज्जाके साथ दीन भावसे दादा सा'बके आगे एक प्रस्ताव पेश किया। मैंने कहा, "यद्यपि नयनजोड़के रईस बाबुओंके साथ मेरे खानदानकी कोई तुलना नहीं हो सकती, फिर भी—"

मेरा पूरा प्रस्ताव सुनते ही दादा साहबने मुझे छातीसे लगा लिया, और आनन्दके आवेगमें कह उठे, "मैं गरीब हूं,– मेरा ऐसा सौभाग्य हो सकता है इसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, भाई! मेरी कुसुमने बहुत पुण्य किया है, इसीसे वह आज तुम्हें पा सकी।" कहते-कहते वृद्धकी आँखोंसे आँसू टपकने लगे।

कैलास बाबूने, अपने महिमान्वित पूर्वपुरुषोंके प्रति अपना कर्तव्य भूलते हुए, आज यह पहले-पहल स्वीकार किया कि वे गरीब हैं, और मंजूर किया कि मुझे पाकर नयनजोड़के बाबू-वंशका गौरव नहीं घटा। हाय हाय, जब मैं उस बूढ़े भले-मानसको बेवकूफ बनानेकी कोशिश कर रहा था तब वह मुझे परम सत्पात्र समझकर मुझ ही को चाह रहा था।

बंगला-रचना : जेठ १९५२
हिन्दी-अनुवाद : भाद्र २००६

बैरागिन

मैं लिखा करता हूं, किन्तु लोक-रञ्जन मेरी कलमका धर्म नहीं : लिहाजा लोग भी मुझे हमेशा जिस रंगमें रंगा करते हैं उसमें सियाहीका हिस्सा ही ज्यादा होता है। अपने सम्बन्धमें मुझे बहुत-सी बातें सुननी पड़ती हैं, और दुर्भाग्यसे वे हितकी बातें नहीं होतीं, और मनोहारी तो कतई नहीं।

शरीरमें जहाँ घाव होता है वह जगह चाहे जितनी ही तुच्छ क्यों न हो, अपने दर्दके बूतेपर सारे शरीरमें वही सबसे बड़ी बन जाती है। जो व्यक्ति गाली खा-खाकर आदमी बनता है वह अपने स्वभावको ढकेलकर एकरुखा हो जाता है। उसे अपने चारों तरफको छोड़कर सिर्फ अपना ही खयाल रहता है ; और यह बात न आरामकी है और न कल्याणकी। असलमें अपनेको भूलना ही तो सुख है।

इसीलिए मुझे क्षण-क्षणमें निर्जनताकी खोज करनी पड़ती है। आदमीके धक्के खाते-खाते मनके चारों तरफ जो दचके पड़ जाते हैं, विश्व-प्रकृतिके सेवा-निपुण हाथोंके गुणसे वे फिर ठीक हो जाते हैं।

कलकत्तासे दूर एकान्तमें मेरा एक अज्ञातवासका स्थान है। मैं अपनी लोक-चर्चाके उपद्रवसे निकलकर कभी-कभी वहाँ जाकर छिप जाता हूं। वहाँके लोग मेरे सम्बन्धमें अभी तक किसी सिद्धान्तपर नहीं पहुँचे हैं। उनलोगोंने देखा है कि 'मैं भोगी नहीं हूं, गाँवकी रजनीको कलकत्ताके कलुषसे कलुषित नहीं करता ; मैं योगी भी नहीं हूं, कारण उससे मेरा जो-कुछ परिचय मिलता है उसमें धनके लक्षण हैं ; मैं पथिक भी नहीं हूँ, कारण गाँवकी राहमें घूमता हूँ किन्तु कहीं पहुँचनेकी तरफ मेरा कोई लक्ष्य ही नहीं।' और यह कहना भी कठिन है कि मैं गृही हूँ, कारण घरवालोंके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं। इसलिए, परिचित जीव-श्रेणीके किसी एक प्रचलित खानेमें न पड़नेसे गाँवके लोगोंने मेरे विषयमें चिन्ता करना एक तरहसे छोड़ ही दिया है : और मैं भी निश्चिन्त हूं।

थोड़े ही दिन हुए, मुझे खबर मिली है कि इस गाँवमें एक आदमी है जिसने मेरे सम्बन्धमें कोई-एक खयाल बना रखा है,—कमसे कम उसने मुझे बेवकूफ नहीं समझा। उसके साथ पहले-पहल जब मेरी भेंट हुई तब आषाढ़ मास और दिनका तीसरा पहर था। रोना खतम हो जानेके बाद भी आँखोंके पलक जैसे भीगे रहते हैं, प्रकृतिकी लगभग वैसी ही हालत थी। सवेरेकी वर्षासे पेड़-पौधे-पत्ते, आकाश और हवामें एक तरहकी आर्द्रता मौजूद थी। अपने तालाबके ऊंचे तटपर खड़ा-हुआ मैं एक स्वास्थ्यवती सुन्दर काली गायका 'घास खाना' देख रहा था। उसकी चिकनी देहपर जो धूप पड़ रही थी उसे देखकर मैं सोच रहा था, 'आकाशके प्रकाशसे अपनेको बचानेके लिए सभ्यताने जो इतनी दरजीकी दूकानें खोल रखी हैं, उसके बराबर फजूलखर्ची और कुछ नहीं हो सकती।'

इतनेमें सहसा देखा कि एक प्रौढ़ा स्त्रीने मेरे सामने आकर मुझे भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। उसके आँचलमें कई दोनोंमें कनेर, गन्धराज तथा और भी दो-चार तरहके फूल थे। उनमेंसे एक दोना निकालकर उसने मेरे हाथमें दिया, और कहा, "अपने देवताको दे रही हूं।" और तुरत वहाँसे चली गई।

मैं इतना आश्चर्यमें डूब गया कि उसे अच्छी तरह देख भी नहीं सका। घटना अत्यन्त साधारण थी। किन्तु मेरे सामने वह इस तरह प्रकट हुई कि वह जो काली गाय तीसरे पहरकी धूसर धूपमें अपनी पूंछसे पीठकी मक्खियाँ उड़ाती-हुई और लम्बी-लम्बी साँस छोड़ती-हुई शान्त आनन्दसे नव-वर्षाकी कोमलरस हरी घास खा रही थी, उसकी जीव-लीला मेरी दृष्टिमें अपूर्व और मनोरम हो उठी। मेरी बात सुनकर लोग हँसेंगे, किन्तु, यह सच है कि मेरा मन भक्तिसे भर उठा। मैंने सहज-आनन्दमय जीवनेश्वरको प्रणाम किया और बगीचेके आमके पेड़से पत्तों-समेत एक कोमल टहनी तोड़कर गायको खिलाने लगा। मुझे ऐसा लगा कि अपने देवताको मैंने सन्तुष्ट कर दिया।

इसके दूसरे वर्ष जब मैं फिर वहाँ गया तब माघका महीना खतम हो रहा था और जाड़ा पड़ रहा था। तब सवेरेकी धूप पूरबकी खिड़कीमेंसे मेरी पीठपर पड़ रही थी, मैंने उसे मना नहीं किया। दूसरी मंजिलके एक कमरेमें

बैठा मैं लिख रहा था, इतनेमें नौकरने आकर खबर दी कि आनन्दी बैरागिन मुझसे मिलना चाहती है। कौन है, मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया, और अन्य-मनस्क होकर कह दिया, "अच्छा, यहीं बुला ला।"

बैरागिनने पाँव छूकर मुझे प्राणाम किया। देखा कि वही मेरी पूर्व परिचित स्त्री है। वह सुन्दरी है या नहीं, इस बातपर विचार करनेकी उमर मेरी पार हो चुकी थी। दोहरा बदन है, साधारण स्त्रियोंसे लम्बी है, नियमित भक्तिसे शरीर उसका विनम्र हो गया है और उसमें एक तरहका बलिष्ठ निःसङ्कोच-भाव है। सबसे ज्यादा दृष्टि पड़ती है उसकी आँखोंपर,—मानो उनमें ऐसी कोई अज्ञात शक्ति छिपी हुई है जो बहुत दूरकी चीजको अपने पास देख रही है। उसने अपनी आँखोंसे मानो मुझे धक्का देकर पूछा, "यह तुमने क्या किया! मुझे तुमने अपने इस राज-सिंहासनके तले लाकर क्यों हाजिर किया? तुम्हें जो मैं पेड़के नीचे देखा करती थी, वही तो अच्छा था।"

मैं समझ गया, पेड़के नीचे मुझे इसने बहुत दिन देखा है, किन्तु मैं इसे नहीं देख पाया। जुकाम हो जानेसे कई दिनोंसे मैंने बाहर और बगीचेमें घूमना बन्द कर दिया था, मकानकी छतसे ही सन्ध्याकाशके साथ मिल लिया करता था,—इसीसे कई दिनोंसे वह मुझे नहीं देख पाई।

जरा ठहरकर वह बोली, "गौराङ्ग, तुम मुझे कुछ उपदेश दो।"

मैं बड़ी परेशानीमें पड़ गया। बोला, "मैं उपदेश दे भी नहीं सकता, ले भी नहीं सकता। आँखें मींचकर और चुप रहकर जो-कुछ पा जाता हूँ, उसीसे मेरा काम चल जाता है। यह जो मैं तुम्हें देख रहा हूँ, इससे मेरा देखना भी हो रहा है और सुनना भी हो रहा है।"

बैरागिन बहुत ही खुश हो उठी, और 'गौराङ्ग, गौराङ्ग' कहती-हुई बोली, "भगवान तो सिर्फ रसनासे ही नहीं बोलते, वे तो अपने सर्वाङ्गसे बात करते हैं।"

मैंने कहा, "चुप रहनेसे ही सर्वाङ्गसे उनकी बात सुनी जा सकती है। वही सुननेके लिए ही तो मैं शहर छोड़कर यहाँ चला आता हूं।"

वह बोली, "सो मैं समझ गई हूं, इसीसे तो तुम्हारे पास आकर बैठती हूं।"

जाते समय जब उसने मेरे पाँवोंकी धूल लेनी चाही तो मैंने देखा कि मेरे मोजेपर हाथ लगनेसे उसे कुछ बाधा-सी मालूम हुई।

दूसरे दिन सूर्योदयके पहले ही मैं छतपर जाकर बैठ गया। बगीचेके दक्षिणमें झाऊके पेड़ोंके ऊपरसे दिगन्त तक मैदान-ही-मैदान दिखाई दे रहा है। पूरबमें बाँसकी झाड़ियोंसे घिरे गाँव और ईखके खेतोंके बीचमेंसे प्रतिदिन सूर्योदय होता है। गाँवकी कच्ची सड़क सहसा पेड़ोंकी घनी छायाके भीतरसे निकलकर खुले मैदानको पार करके टेढ़ी-मेढ़ी लकीर-सी बनकर बहुत दूर तक चली गई है।

सूर्योदय हुआ है या नहीं, मालूम नहीं। सफेद कुहरेकी एक चादर-सी, विधवाके घूँघटकी तरह, गाँवके पेड़ोंपर ढकी-हुई है। देखा कि वह बैरागिन भोरके उस धुँधले उजालेमेंसे, सचल कुहरेकी मूर्ति-सी बनकर, करताल बजाती और हरि-नाम गाती-हुई पूरबके उस गाँवके सामनेसे चली जा रही है। नींद खुलनेके बाद पलक खुलनेकी तरह वह कुहरा उठ गया; और, खेत और घरके नाना काम-धन्धोंमें जाड़ेकी धूप गाँवकी दादीकी तरह खूब जमकर बैठ गई।

मैं तब सम्पादककी ताकीद मिटानेके लिए लिखनेकी टेबिलपर आकर बैठा ही था। इतनेमें जीनेमें किसीके आनेकी आहट और साथ-साथ गीतका शब्द सुनाई दिया। बैरागिन गुनगुनाती-हुई आई, और मुझे प्रणाम करके कुछ दूरीपर बैठ गई। मैंने लेखपरसे निगाह उठाकर देखा और चुप रह गया।

उसने कहा, "कल मैंने तुम्हारा प्रसाद पाया है।"

मैंने कहा, "क्या कह रही हो, तुम!"

उसने कहा, "कल शामको मैं तुम्हारे दरवाजेके बाहर बैठी राह देख रही थी कि कब तुम्हारा खाना हो और मैं प्रसाद पाऊँ। तुम्हारे खा चुकनेपर नौकर जब तुम्हारी जूठी थाली ले जा रहा था तब, उसमें क्या था सो मैं नहीं जानती, मैंने प्रसाद पा लिया।"

मैं आश्चर्यसे दंग रह गया। मेरे विलायत जानेकी बात सभीको मालूम है। वहाँ मैंने क्या खाया है और क्या नहीं खाया, इसका अन्दाज लगाना कठिन नहीं, किन्तु गोबर नहीं खाया। बहुत दिनोंसे मांस-मछली खानेकी

मुझे रुचि नहीं है, किन्तु फिर भी, मेरे रसोइयाकी जातके बारेमें कुछ न कहना ही अच्छा है। मेरे चेहरेपर आश्चर्यका लक्षण देखकर बैरागिनने कहा, "यदि तुम्हारा प्रसाद ही न खा सकी, तो तुम्हारे पास आनेकी मुझे जरूरत ही क्या थी?"

मैंने कहा, "लोगोंको मालूम पड़नेपर तुमपर उनकी जरा-सी भी भक्ति न रहेगी।"

उसने कहा, "मैं तो सबसे कहती फिरी हूं। सुनकर उनलोगोंने समझ लिया कि मेरी ऐसी ही दशा है।"

बैरागिन जिन लोगोंके घर रहती थी उनसे उसके बारेमें विशेष कुछ नहीं मालूम हुआ। सिर्फ इतना ही जान सका कि उसकी मा अच्छी हालतमें है और अभी भी जीवित है। लड़कीकी बहुत-से लोग भक्ति करते हैं, इस बातको वह जानती है। उसकी इच्छा है कि वह लड़कीके पास आकर रहे, पर आनन्दी ऐसा नहीं चाहती। मैंने पूछा, "तुम्हारा गुजारा कैसे होता है?"

जवाबमें सुना कि 'उसके भक्तोंमेंसे एकने उसे थोड़ी-सी जमीन दे रखी है, उसीकी फसलसे उसका काम चल जाता है। और भी कई लोग खाते हैं, फिर भी वह खतम नहीं होती।' कहती-हुई वह हँसकर बोली, "मेरे तो सब-कुछ था, मैं सब छोड़ आई हूं, फिर मांग-मँगकर इकट्ठा कर रही हूं। अच्छा, इसकी क्या जरूरत थी बताओ भला?"

शहरमें होता तो इस प्रश्नको आसानीसे न जाने देता। भिक्षाजीवियोंसे समाजका कितना अनिष्ट होता है, समझा देता। किन्तु इस जगह आकर मेरी किताबी विद्याका सारा जोर मारा जाता है। बैरागिनके आगे मेरे मुँहसे कोई तर्क ही न निकला, मैं चुप रह गया।

मेरे उत्तरकी प्रतीक्षा न करके वह खुद ही कहने लगी, "नहीं नहीं, यही मेरे लिए अच्छा है। मेरे लिए मांगा-हुआ अन्न ही अमृत है।"

उसकी बातका भाव मैं समझ गया। जो प्रतिदिन ही अन्न जुटा देते हैं, भिक्षाके अन्नसे उन्हींका स्मरण होता रहता है। और अपने घरके अन्नमें मालूम होता है कि 'अपने ही अन्नका मैं अपनी ही शक्तिसे भोग कर रहा हूं।'

मेरी इच्छा हुई कि उससे उसके पतिकी बात पूछूँ। पर, उसने खुद कुछ नहीं कहा तो मैंने भी कुछ नहीं पूछा। यहाँके जिस मुहल्लेमें उच्चवर्णके लोग रहते हैं उस मुहल्लेके प्रति बैरागिनको कोई भी श्रद्धा नहीं थी। कहती है, 'देवताको वे कुछ देते नहीं, उलटे उनके भोगमेंसे वे सबसे ज्यादा हिस्सा ले लेते हैं। गरीब लोग भक्ति करते हैं और उपासे मरते हैं।'

उस मुहल्लेकी दुष्कृतियोंके विषयमें मैंने बहुत-कुछ सुन रखा था, इसलिए मैं बोला, "उन सब दुर्मतियोंके बीच रहकर तुम्हें उनकी मति-गति सुधारनी चाहिए,– इसमें भगवानकी ही सेवा है।"

ऐसे ऊँचे दरजेके उपदेश मैंने बहुत सुने हैं। और, औरोंको सुनाना भी मैं पसन्द करता हूं। किन्तु, बैरागिनको इससे जरा भी अचम्भा नहीं हुआ। मेरे चेहरेपर अपनी उज्ज्वल दृष्टि रखते-हुए उसने कहा, "तुम्हारा कहना है, भगवान पापियोंमें भी हैं,– इसलिए उनकी सङ्गत करनेसे भी भगवानकी पूजा होती है। यही न?"

मैंने कहा, "हाँ।"

उसने कहा, "वे जब जिन्दा हैं तो भगवान भी उनके साथ जरूर हैं। पर, इससे मुझे क्या! मेरी पूजा तो वहाँ चल नहीं सकती,– मेरे भगवान जो उनमें नहीं हैं। वे जहाँ हैं, मैं वहीं उनको ढूंढ़ा करती हूं।" कहते-हुए उसने मुझे प्रणाम किया। उसके कहनेका मतलब यह कि 'सिर्फ मतको लेकर मैं क्या करूँगी,– सत्य भी तो चाहिए। यह सच है कि भगवान सर्वव्यापी हैं, पर जहाँ मैं उन्हें देखती हूं वही वे मेरे सत्य हैं।'

जरूरत न होनेपर भी इतना तो मुझे कहना ही पड़ेगा कि मुझे उपलक्ष्य मानकर बैरागिन जो भक्ति करती है, मैं उसे ग्रहण भी नहीं करता, अस्वीकार भी नहीं करता।

आधुनिक कालकी छूत मुझे लग चुकी थी। मैं 'गीता' पढ़ा करता हूं, और विद्वानोंके पास जाकर उनसे धर्मतत्त्वकी अनेक प्रकारकी सूक्ष्म व्याख्या सुना करता हूं। सिर्फ सुनते-सुनते ही उमर बीत गई, पर कहीं भी कुछ प्रत्यक्ष तो नहीं देखा! इतने दिन बाद आज अपनी दृष्टिका अहङ्कार छोड़कर मैंने

इस शास्त्रज्ञान-हीन स्त्रीकी आँखोंमें सत्यको देखा। भक्ति करनेके छलसे शिक्षा देनेकी यह कैसी आश्चर्यजनक पद्धति है!

दूसरे दिन सवेरे बैरागिनने आकर मुझे प्रणाम किया ; और देखा कि आज भी मैं लिखनेमें ही लगा-हुआ हूं। उसे यह अच्छा नहीं मालूम हुआ, विरक्तिके साथ वह कह उठी, "मेरे भगवान तुमसे झूठमूठको इतनी मेहनत क्यों करा रहे हैं! जब भी आती हूं, मैं तुम्हें लिखते ही पाती हूं।"

मैंने कहा, "जो आदमी किसी कामका ही नहीं, भगवान उसे बैठा नहीं रहने देते ; इसलिए कि कहीं वह बिलकुल ही मिट्टी न हो जाय। असलमें दुनिया-भरके फालतू काम उसीके जुम्मे होते हैं।"

मैं कितने आवरणोंसे ढका-हुआ हूं, यह देखकर बैरागिन अधीर हो उठी। मुझसे मिलनेके लिए उसे अनुमति लेकर ऊपर आना पड़ता है, और पाँव छूना चाहती है तो हाथ पड़ता है जुर्राबपर! दो सहज बातें कहना और सुनना चाहती है तो मेरे मनको चक्कर काटते पाती है किसी लेखके भँवरमें!

वह हाथ जोड़कर बोली, "गौराङ्ग, आज भोरमें बिस्तरसे उठते ही मुझे तुम्हारे चरण मिल गये। अहा, तुम्हारे वे पाँव, अनढके खुले पाँव, कैसे ठंडे थे! कैसे कोमल थे! बहुत देर तक माथेसे लगाये रही। यह तो हो गया। फिर यहाँ आनेकी जरूरत? प्रभु, यह मेरा मोह तो नहीं? ठीक-ठीक कहना!"

मेरी टेबिलपर फूलदानीमें कलके कुछ फूल पड़े थे। माली आकर उन्हें निकालकर ताजे फूल रखने लगा।

बैरागिन मानो व्यथित होकर बोल उठी, "बस? ये फूल व्यर्थ हो गये? तुम्हें अब इनकी जरूरत नहीं? तो लाओ दो, मुझे दे दो।" यह कहते-हुए उसने फूल अपनी अञ्जलिमें ले लिये ; और बहुत देर तक सिर झुकाये अत्यन्त स्नेहके साथ उन्हें एकटक देखती रही।

कुछ देर बाद मुँह उठाकर बोली, "तुम इनकी तरफ आँख उठाकर देखते नहीं, इसीसे तुम्हारे आगे ये मुरझा जाते हैं। जब देखोगे तब तुम्हारी यह लिखापढ़ी सब खतम हो जायगी।" कहते-हुए उसने बड़े जतनसे उन बासी

फूलोंको अपने आँचलमें बाँधा, और फिर उन्हें माथेसे लगाकर कहा, "अपने देवताको मैं लिये जाती हूं।"

'केवल फूलदानीमें रखनेसे ही फूलोंका आदर नहीं होता' – इस बातको समझनेमें मुझे देर न लगी। मुझे ऐसा लगा कि अपनी फूलदानीके फूलोंको मानो मैं, स्कूलके पाठ-याद-न-करनेवाले लड़कोंकी तरह, प्रतिदिन बेञ्चपर खड़ा किये रखता था।

उस दिन शामको मैं छतपर बैठा था, इतनेमें देखा कि बैरागिन मेरे पैरोंके पास आकर बैठ गई। बोली, "आज सवेरे नाम सुनाते समय तुम्हारी प्रसादी उन फूलोंको मैं घर-घर बाँट आई। मेरी भक्ति देखकर वेणी चक्रवर्ती हँसके बोले, 'पगली, तू किसकी भक्ति कर रही है। दुनियाके लोग जिसे बुरा बताते हैं उसकी!' क्यों जी, सब-कोई तुम्हारी बुराई क्यों किया करते हैं?"

एक क्षणके लिए मेरा मन संकुचित हो उठा। तो, कलिकालकी बौछार इतनी दूर भी आ पड़ती है! बैरागिनने कहा, "वेणीने सोचा था कि मेरी भक्तिको, प्रभु, वह एक फूंकसे बुझा देगा। पर, यह तो तेलका दिआ नहीं, आग है, आग! मेरे गोरे, ये लोग तुम्हें गालियाँ क्यों देते हैं?"

मैंने कहा, "मेरी पावनी हैं इसलिए। मैंने शायद किसी दिन छिपकर उनका मन चुरानेका लोभ किया होगा।"

बैरागिनने कहा, "आदमीके मनमें कितना विष है सो तो देख चुके! लोभ क्या अब भी बना रहेगा?"

मैंने कहा, "मनमें लोभ रहनेसे ही मारके आगे रहना पड़ता है। तब अपनेको मारनेका विष अपना मन ही जुटाता रहता है। इसीसे मेरा ओझा मेरे ही मनको निर्विष करनेके लिए इतने जोरका झाड़ा दे रहा है।"

उसने कहा, "दयालु भगवान मारते-मारते तब कहीं मारको भगाते हैं। अन्त तक जो सह लेता है वही जी जाता है।"

उस दिन अँधेरी छतपर सन्ध्या-तारा निकलकर फिर अस्त हो गया। बैरागिन अपने जीवनकी बातें सुनाने लगी :—

मेरे पति बड़े सीधे-सादे आदमी हैं। कोई-कोई समझते थे कि उनमें कुछ समझनेकी शक्ति नहीं है। पर मैं जानती हूँ, जो खुद सीधे-सादे हैं और अपनी सीधी-सादी समझसे समझा करते हैं, कुल-जमा वे ही ठीक समझते हैं। मैंने देखा है कि अपनी खेती-बारी और जमीन-जायदादके बारेमें वे ठगाये न जाते हों, सो बात नहीं, फिर भी, अपने सब काम वे ठीक तरीकेसे चलाते थे। धान-चावल पाटका मामूली-सा रोजगार था, कभी उसमें उन्होंने नुकसान नहीं उठाया। कारण, उनके लोभ कम था। जितनेकी उन्हें जरूरत थी उतने ही में वे हिसाब लगाकर चलते थे। उससे जो ज्यादा था उसे न तो वे समझते थे और न उसमें हाथ ही डालते थे।

मेरे ब्याहके पहले ही मेरे ससुरकी मृत्यु हो गई थी; और ब्याहके कुछ दिन बाद सास भी जाती रहीं। फिर घरमें मेरे माथेपर और कोई भी नहीं रहा। मेरे पतिसे अपने सिरपर किसी ऊपरवालेको बगैर बिठाये रहा नहीं जाता था। यहाँ तक कि, कहनेमें शरम आती है, मुझपर वे भक्ति करते थे। फिर भी मेरी धारणा है कि वे मुझसे कहीं ज्यादा समझते थे और मैं उनसे सिर्फ बोलती ज्यादा थी। वे सबसे ज्यादा भक्ति करते थे अपने गुरुपर। केवल भक्ति नहीं, प्रेम भी करते थे,— ऐसा प्रेम देखनेमें नहीं आता। गुरुजी उनसे उमरमें कुछ छोटे थे। कैसा सुन्दर रूप था उनका!

कहते-कहते बैरागिन क्षण-भरके लिए रुक गई, और अपनी दूर-विहारी दृष्टिको बहुत दूर पहुंचाती-हुई गुनगुनाने लगी—

अरुन-किरन-खानि तरुन अमृते सानि
कओन विधि निरमिल देहा!

फिर कहने लगी :—

अपने उन गुरुके साथ वे बचपनसे खेले थे; और तभीसे वे उन्हें अपने प्राण-मन समर्पण कर चुके थे। तब मेरे पतिको गुरु महाराज भोंदू ही समझते थे, इसलिए उनपर वे काफी उपद्रव किया करते थे। अन्य साथियोंके साथ मिलकर उनकी हँसी उड़ाकर उन्होंने उन्हें इतना हैरान किया है कि जिसकी हद नहीं।

ब्याह होनेके बाद जब मैं सुसराल आई तब गुरु महाराजको मैंने नहीं देखा। वे तब पढ़नेके लिए काशी चले गये थे। मेरे पतिने ही उन्हें अपने खर्चसे पढ़ने भेजा था, और बराबर खर्च भेजते रहे थे।

गुरुजी जब देश लौटे, तब शायद मेरी उमर होगी अठारहके करीब।

पन्द्रह सालकी उमरमें मेरे एक लड़का हुआ था। तब कम उमर होनेकी वजहसे ही शायद उस बच्चेको मैं जननसे लालन-पालन न कर सकी। मुहल्लेकी सखी-सहेलियोंमें ही मेरा मन दौड़ा करता था। लड़केके लिए हरदम मुझे घरमें बन्द रहना पड़ता था, इसलिए कभी-कभी मुझे उसपर बड़ा गुस्सा आता था। किन्तु, हाय, लड़का जब आ पहुँचा था, मा तब पिछड़ी ही पड़ी थी, भला ऐसी विपदा और क्या हो सकती थी! मेरे गोपालने आकर देखा कि अब तक उसके लिए माखन ही नहीं बना! इसीसे तो वह नाराज होकर चला गया। मैं आज भी सर्वत्र उसे ढूंढ़ती फिरती हूं। लड़का बापकी आँखोंका तारा था। मैं उसे लाड़-प्यारसे न रख सकी, इसके लिए उसके बापको बहुत वेदना थी। किन्तु उनका हृदय जो गूंगा था, आज तक अपने दुःखकी बात वे किसीसे कुछ कह ही नहीं सके!

स्त्रियोंकी तरह ही वे बच्चेको लाड़-प्यार करते थे। रातको बच्चा जग जाता तो वे मेरी गहरी नींद न छुड़ाकर खुद ही उसे गोदमें लेकर सुला दिया करते, और मैं जान भी न पाती। उनके सभी काम ऐसे ही गुप-चुप हुआ करते थे। पूजा या और किसी उत्सवमें जब जमींदारोंके यहाँ 'यात्रा' या कथा होती, तो वे कहते, "मुझसे रातको जगा नहीं जायगा, तुम जाओ,— मैं यहीं रहूंगा।" वे जानते थे कि बच्चेको यदि उन्होंने न सम्हाला, तो मेरा जाना नहीं हो सकता, इसीके लिए उनका 'रात न जग सकने' का बहाना होता।

आश्चर्यकी बात यह है कि फिर भी लड़का सबसे ज्यादा मुझ ही को प्यार करता था। मानो वह समझता था कि मौका पाते ही मैं उसे छोड़कर चली जाऊंगी; और इसीलिए शायद जब वह मेरे पास रहता तब डरते-डरते ही रहता। उसने मुझे कम पाया था, इसीसे मुझे पानेकी आकांक्षा उसकी किसी तरह मिटती ही न थी। मैं जब नहानेके लिए घाट जाती, तो वह मेरे साथ

जानेके लिए रोज मुझे परेशान कर डालता। असलमें स्त्रियोंका नहानेका घाट सङ्गिनियोंसे मिलनेकी जगह है, वहाँ लड़केको ले-जाकर उसकी रखवाली करना मुझे अच्छा न लगता था, इसलिए जहाँ तक बनता मैं उसे न ले जाना चाहती।

उस दिन, सावनका महीना था, घने बादलोंका ऐसा घटाटोप छा गया कि दोपहरको शाम मालूम होने लगी। घाट जाते वक्त लल्लाने रो-रोकर घर भर दिया। निस्तारिणी हमारे यहाँ रसोईका काम करती थी, उससे मैं कह गई कि 'बच्चेको सम्हालना, मैं अभी आई एक डुबकी लगाके।'

घाटपर उस समय और कोई भी न था। सङ्गिनियोंके आनेकी प्रतीक्षामें मैं पानीमें तैरने लगी। तालाब बहुत बड़ा और पुराना था। किसी जमानेमें किसी रानीने उसे खुदवाया था, इससे उसका नाम था 'रानी-सागर'। अपनी साथिनोंमें मैं ही एक ऐसी थी जो तैरकर उसे पार कर सकती थी। बरसातके दिन थे, तालाब ऊपर तक भरा-हुआ था। जब मैं तैरती-हुई बीच तालाबमें पहुँची तो पीछेसे आवाज सुनी, 'मा!' मुड़कर देखा तो, लल्ला घाटकी सीढ़ियोंसे उतरता-हुआ मुझे बुला रहा है! मैं चीखकर बोली, 'अब मत उतर! मैं आई!' मनाई सुनकर हँसते-हँसते वह और भी जल्दी-जल्दी उतरने लगा। डरसे मेरे हाथ-पाँव मानो बँध-से गये। फिर मुझसे तैरा न गया। मैंने आँखें मींच लीं, कहीं और-कुछ न देखना पड़े! इतनेमें घाटकी फिसलनमें मेरे लालकी हँसी हमेशाके लिए पानीमें डूब गई। किनारे आकर उस 'माके भूखे' बच्चेको पानीके नीचेसे निकाला और गोदमें लेकर बैठ गई। किन्तु उसने फिर 'मा' कहकर नहीं पुकारा।

अपने गोपालको मैंने बहुत दिन रुलाया था,— आज वह सारा-का-सारा अनादर मुझपर पड़कर मुझ ही को मारने लगा। जीवित अवस्थामें उसे मैं बराबर छोड़कर चली जाया करती थी, इसीसे आज वह दिन-रात मेरे मनको जकड़े-हुए पड़ा है। मेरे पतिके हृदयमें कितनी गहरी चोट पहुँची सो वे ही जानते हैं या उनके अन्तर्यामी जानते होंगे। मुझे अगर वे बुरी-भली कहते, गालियाँ देते, डाटते-फटकारते, तिरस्कार करते, तो अच्छा होता। किन्तु वे तो केवल सहन करना ही जानते हैं, कहना तो जानते नहीं!

इस तरह मैं एक तरहसे पागल-सी हो गई। इतनेमें, गुरुजी काशीसे लौटकर घर आये।

बचपनमें जब मेरे पति उनके साथ एकसाथ खेला करते थे तबका वह कुछ और-ही भाव था! अब लम्बे विच्छेदके बाद जब उनके बचपनके मित्र विद्याभ्यास करके घर लौटे, तो उनपर मेरे पतिकी भक्ति एकदम परिपूर्ण हो उठी। कौन कहेगा उन्हें देखकर कि बचपनमें कभी वे खेलके साथी रहे हैं! उनके सामने इनके मुंहसे बात तक न निकलती थी।

मेरे पतिने गुरुसे अनुरोध किया कि पुत्र-शोकमें 'वे मुझे सान्त्वना दें, धीरज बंधावें।' गुरु मुझे शास्त्र सुनाने लगे। शास्त्रकी बातोंसे मेरा कुछ विशेष हित हुआ हो, ऐसा तो नहीं याद आता। मेरे लिए उन-सब बातोंका जो भी कुछ मूल्य था वह महज इसलिए कि वे बातें उनके मुँहकी बातें थीं। मनुष्यके कण्ठसे ही भगवान अपना अमृत आदमीको पिलाते हैं, ऐसा सुधापात्र तो उनके हाथमें और नहीं है। और फिर, खुद भी जो वे सुधा पान करते हैं वह भी तो मनुष्यके कण्ठसे ही करते हैं।

मेरे पतिमें जो अगाध गुरु-भक्ति थी उसने मानो हमारी घर-गृहस्थीको मधुमक्खीके छत्तेके भीतरके मधुकी तरह ही पूरा भर रखा था। हमलोगोंका आहार-विहार धन-जन सब-कुछ उस भक्तिसे भरपूर था, कहीं भी जरा-सी खाली जगह नहीं थी। मैंने उस रसमें अपना सम्पूर्ण मन डुबोकर तब कहीं सान्त्वना पाई थी। इसीलिए देवताको मैं अपने गुरुके रूपमें ही देखने लगी।

प्रतिदिन सवेरे सोतेसे उठते ही यही बात याद आती थी कि वे आकर अहार करेंगे और उसके बाद मैं उनका प्रसाद पाऊंगी। मैं उसी आयोजनमें लग जाती। उनके लिए साग-तरकारी बनाती तो मेरी उंगलियोंमें आनन्दध्वनि गुंज उठती। ब्राह्मण न-होनेके कारण मैं उन्हें अपने हाथसे बनाकर नहीं खिला सकती थी, इसलिए मेरे हृदयकी पूरी भूख कभी न मिटती थी। वे तो ज्ञानके समुद्र थे, उनमें तो कोई कमी नहीं थी। किन्तु मैं जो साधारण नारी ठहरी, मैं उन्हें सिर्फ जरा खिला-पिलाकर ही खुश कर सकती थी,— उसमें भी इतनी तरफ इतनी दरारें थीं!

मेरी गुरु-सेवा देखकर मेरे पतिका मन प्रसन्न होता रहता, और मुझपर उनकी भक्ति और भी बढ़ती रहती। वे जब देखते कि गुरुको मेरे सामने शास्त्र-व्याख्या करनेमें विशेष उत्साह है तब सोचते कि 'गुरुसे अपनी बुद्धिहीनताके लिए वे जो बराबर अश्रद्धा पाते आये हैं, उनकी स्त्रीने अपनी बुद्धिके जोरसे गुरुको खुश करके उसे मिटा दिया, यह उनके लिए बड़े सौभाग्यकी बात है।'

इस तरह चार-पाँच साल कैसे बीत गये, कुछ मालूम ही न हुआ।

सारा जीवन ही इसी तरह कट जाता। किन्तु भीतर-ही-भीतर कहीं एक चोरी चल रही थी। उसे मैं न पकड़ सकी ; किन्तु अन्तर्यामीने पकड़ लिया। उसके बाद एक दिन एक ही क्षणमें सब उलट-पुलट हो गया।

उस दिन, फागुनका महीना था, सवेरेके वक्त मैं नहा-धोकर भीगी साड़ी पहने घाटसे घर लौट रही थी। इतनेमें रास्तेकी मोड़में आमके पेड़के नीचे गुरुजीसे भेंट हो गई। वे कँधेपर अंगौछा डाले संस्कृतका कोई श्लोक पढ़ते-हुए नहाने जा रहे थे।

भीगे-कपड़ोंमें उनके सामने पड़ जानेसे मैं मारे शरमके गड़ गई ; और एक तरफ हटकर उनकी ओर पीठ करके खड़ी होकर जल्दीसे भागनेकी सोच ही रही थी कि उन्होंने मेरा नाम लेकर पुकारा। मैं सिकुड़कर निगाह नीची किये खड़ी रही। उन्होंने सामने आकर मेरे चेहरेपर दृष्टि डालते-हुए कहा, 'तुम्हारी देह तो बड़ी सुन्दर है !'

डाली-डालीपर दुनिया-भरकी चिड़ियाँ बोल रही थीं। सड़कके दोनों किनारे झुरमुटोंमें घेंटू-फूल खिल रहे थे, आमकी डालियाँ बौरोंसे भर गई थीं। मालूम हुआ, सारा आकाश-पाताल पागल होकर उलट-पुलट गया है।

कैसे मैं घर पहुँची, कुछ होश नहीं। घर जाकर सीधी मैं भीगे-कपड़ोंसे ही ठाकुर-घरमें घुस गई, आँखोंसे ठाकुर दिखाई ही नहीं दिये। मेरी आँखोंके सामने केवल घाटकी सड़क-ही-सड़क चमकने और नाचने लगी।

उस दिन गुरुजी भोजन करने आये, और पूछने लगे, 'आनन्दी कहाँ है ?'

मेरे पति मुझे ढूँढ़ते फिरे,—किन्तु मैं नहीं मिली।

गौराङ्ग ! मेरा वह संसार अब नहीं रहा। तबसे आज तक मुझे अपने उस सूरजका उजाला नहीं मिला। ठाकुर-घरमें जाकर मैं अपने ठाकुरको पुकारने लगी, किन्तु वे मुझसे मुँह फेरे ही रहे।

दिन कैसे कटा, मुझे ठीक मालूम नहीं। रातको पतिसे भेंट होगी,– तब सब-कुछ नीरव और अन्धकार रहेगा, फिर भी पतिका मन मानो नक्षत्रकी तरह खिल उठेगा। उस अँधेरेमें उनके मुँहसे एक-आध बात सुनकर सहसा समझ जाती कि ये सीधे-सादे भोले आदमी जो-कुछ समझते हैं सो कितनी सरलतासे समझ लेते हैं।

घरका काम-काज करके आनेमें मुझे अकसर देर हो जाया करती, वे मेरे लिए बिस्तरसे अलग बैठे प्रतीक्षा किया करते। तब अकसर हम-दोनोंमें गुरुके विषयमें कुछ-न-कुछ बातचीत हुआ करती।

उस दिन मैंने बहुत रात कर दी,– तब करीब तीसरा पहर था। घरमें जाकर देखा, मेरे पति बिस्तरपर नहीं सोये हैं, नीचे चटाईपर पड़े-पड़े उनकी आँख लग गई है। मैं अत्यन्त सावधानीसे चुपचाप उनके पाँवोंके पास लेट गई। नींदमें उन्होंने एक बार पाँव पसारा, जो मेरी छातीसे आकर लगा। उसीको मैंने उनका शेष-दान समझकर ग्रहण किया।

दूसरे दिन खूब भोरमें जब उनकी आँख खुली, मैं तब उठके बैठी-हुई थी। खिड़कीके बाहर कटहरके पेड़के माथेपर अँधेरेमें थोड़ा-सा रंग लग चुका था, पर कौए नहीं बोले थे। मैंने पतिके पाँवोंपर लोटकर उन्हें प्रणाम किया। वे भड़भड़ाकर उठके बैठ गये ; और मेरे मुँहकी तरफ अवाक् होकर ताकते रहे। मैंने कहा, "अब मैं घर-गृहस्थीमें नहीं रहूँगी।"

शायद उन्होंने समझा कि सपना देख रहे हैं। उनके मुँहसे कोई बात ही नहीं निकली। मैंने कहा, "तुम्हें मेरे कण्ठकी सौगन्द है, तुम और-किसी स्त्रीसे ब्याह कर लो। अब मैं तुमसे विदा लेती हूँ।"

उन्होंने कहा, "तुम आज यह कैसी बात कर रही हो ! तुम्हें घर छोड़नेके लिए किसने कहा ?"

मैंने कहा, "गुरु महाराजने।"

वे हतबुद्धि-से हो गये, बोले, "गुरु महाराजने ! ऐसी बात उन्होंने कब कही ?"

मैंने कहा, "आज सवेरे जब मैं नहाकर घाटसे लौट रही थी तब रास्तेमें उनसे मेरी भेंट हुई थी,– तभी कहा था ।"

मेरे पतिका कण्ठ काँप उठा, बोले, "उन्होंने ऐसी आज्ञा क्यों दी ?"

मैंने कहा, "मालूम नहीं । उन्हींसे पूछना,–समझा सके तो वे ही तुम्हें समझा सकेंगे ।"

पतिने कहा, "घरमें रहते-हुए भी घर छोड़ा जा सकता है, यह बात मैं गुरुको समझाकर कहूंगा ।"

मैंने कहा, "सम्भव है गुरु समझ जायें, पर मेरा मन नहीं समझनेका । मेरी घर-गृहस्थी आजसे खतम हो गई ।"

मेरे पति चुप होकर बैठ रहे । आकाश जब कुछ उजला हो आया तो बोले, "चलो न, दोनों जने एक बार उनके पास चलें !"

मैंने हाथ जोड़कर कहा, "उनसे अब मेरा साक्षात नहीं हो सकता ।"

उन्होंने मेरे मुँहकी ओर देखा, मैंने गरदन झुका ली । फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा ।

मैं जानती हूं, मेरे मनको उन्होंने अपनी एक ही दृष्टिमें एक तरहसे पूरा देख लिया ।

संसारमें दो जनोंने मुझे सबसे ज्यादा प्यार किया था, एक मेरे लड़केने और दूसरे मेरे पतिने । उनका वह प्रेम ही मेरा नारायण है,– इसीसे वह मिथ्याको न सह सका । एक मुझे छोड़ गया और एकको मैंने छोड़ दिया । अब सत्यको ढूँढ़ रही हूँ, अब धोखा नहीं खा सकती ।

इतना कहकर उसने जमीनसे माथा टेककर मुझे प्रणाम किया, और फिर वह तुरत उठकर चली गई ।

बंगला-रचना : आषाढ़ १९७१
हिन्दी-अनुवाद : श्रावण २००६

चोरीका धन

१

महाकाव्यके युगमें स्त्री प्राप्त करनी पड़ती थी पौरुषके जोरसे, और : जो अधिकारी होते थे वे ही प्राप्त करते थे रमणी-रत्न। किन्तु मुझे स्त्री मिली थी कापुरुषताके बलपर; और इस बातको समझनेमें मेरी स्त्रीको काफी देर लगी थी। मेरी साधना शुरू हुई है ब्याहके बादसे, जिसे मैंने धोखेसे चुराकर पाया है उसकी कीमत मुझे चुकानी पड़ रही है क्षण-क्षणमें।

अधिकांश पुरुष इस बातको भूले रहते हैं कि दाम्पत्यका अधिकार प्रमाणित करना पड़ता है प्रतिदिन नये-नये तरीकोंसे। अलबत्ता, ऐसे पुरुषोंने शुरूमें ही समाजका अनुमतिपत्र दिखाकर कस्टम-हाउससे माल छुड़ा लिया है, किन्तु उसके बाद फिर वे लापरवाह ही रहते हैं। मानो उन्हें अफसरोंके दिये-हुए तगमेके जोरसे पहरेदारका सरकारी प्रताप मिल गया हो! उनकी अगर वर्दी खोल ली जाय तो वे बिलकुल अपात्र ही साबित होंगे।

असलमें ब्याह है जीवन-भरका कीर्तनगान,– उसकी 'टेक' एक ही होती है, किन्तु सङ्गीतका विस्तार होता है प्रतिदिन नये-नये पर्यायोंमें। यह बात मैंने अच्छी तरह समझी है सुनेत्रासे ही। उसमें प्रेमका ऐसा ऐश्वर्य है कि उसका समारोह निबटता ही नहीं; उसकी ड्योढ़ीमें चारों पहर शहाना रागिनी बजती ही रहती है। आफिससे लौटकर एक दिन देखा कि मेरे लिए तैयार रखा है बरफ-शुदा फालसोंका शरबत। रंग देखते ही मन मेरा चौंक उठा। उसके पास ही चाँदीकी छोटी थालीमें रखा-हुआ है फूलोंका गजरा। कमरेमें घुसनेसे पहले ही उसकी सुगन्ध अगवानी करने निकल आती है। किसी दिन देखता हूं कि आइस्क्रीमकी मशीनमें लीचू और दूधके साथ जमाया-हुआ अमरसका प्याला मेरे लिए इन्तजार कर रहा है, और उसके बगलमें पिरिचमें रखा हुआ है सिर्फ एक सूरजमुखी-फूल। बात सुननेमें ऐसी-कुछ भारी नहीं मालूम होती, पर इतना जरूर समझमें आ जाता है कि सुमित्रा दिनपर दिन

नये-नये रूपमें मेरे अस्तित्वका अनुभव कर रही है। इस तरह पुरानेको नये रूपमें अनुभव करनेकी शक्ति होती है कलाकारमें। और 'इतरे जनाः' प्रतिदिन चला करते हैं दस्तूरकी लकीरपर। सुनेत्राके प्रेमकी प्रतिभाका परिचय मिलता है उसकी नवनवोन्मेशशालिनी सेवामें। आज मेरी लड़की अरुणाकी उमर है सत्रह सालकी, अर्थात् ठीक जिस उमरमें सुनेत्राका व्याह हुआ था। उसकी खुदकी उमर है अड़तीस ; किन्तु जतनके साथ साज-सिंगार करनेको वह समझती है प्रतिदिनकी पूजाके लिए नैवेद्यका थाल सजाना, यानी, अपनेको उत्सर्ग करनेका आस्तिक अनुष्ठान।

सुनेत्राको शान्तिपुरकी बनी काली-किनारीकी सफेद साड़ी बहुत पसन्द है। खादी-प्रचारकोंके धिक्कारोंको उसने बिना प्रतिवादके स्वीकार कर लिया है। किन्तु खादी किसी भी तरह स्वीकार नहीं की। उसका कहना है कि 'देशी जुलाहोंके हाथकी, देशी करघेकी बनी, ताँतकी साड़ी मुझे प्यारी लगती है। वे शिल्पकार हैं, उन्हींके पसन्दका सूत है, मेरे पसन्दका है कपड़ा।' असल बात यह है कि सुनेत्रा समझती है हलकी सफेद साड़ीपर सभी रंगोंका इशारा आसानीसे अपनी खूबी जाहिर कर सकता है। ऐसी साड़ियोंमें वह नाना आभासोंसे नवीनता लाती रहती है। देखनेसे ऐसा नहीं लगता कि वह सजी है। और वह समझती है कि मेरे अवचेतन मनका दिगन्त उद्भासित होना है उसके साज-सिंगारसे! मैं खुश होता हूं, मालूम नहीं क्यों खुश होता हूं!

प्रत्येक मनुष्यमें एक 'मैं' मौजूद है ; और प्रेमका वह अपरिमेय रहस्यका असीम मूल्य देता रहता है। अहङ्कारका जाली सिक्का उसके आगे तुच्छ हो जाता है। सुनेत्रा अपने सम्पूर्ण हृदय-मनसे मुझे वह मूल्य देती आई है पिछले इक्कीस वर्षसे। उसके शुभ्र ललाटपर कुङ्कुमबिन्दुओंसे प्रतिदिन लिखी जाती है अश्रान्त विस्मयकी वाणी। उसके निखिल जगतके मर्मस्थलपर मेरा ही अधिकार है, इसके लिए मुझे साधारण जगतके और-किसीसे ज्यादा कुछ भी नहीं होना पड़ा। प्रेम साधारणको ही असाधारण बनाकर अपना लेता है। शास्त्र कहते हैं, 'अपनेको पहचानो।' आनन्दसे अपनेको ही जानता हूं जब और-एक-कोई प्रेमसे मेरे आपेको जानता है।

२

मेरे पिता थे किसी एक नामी बैङ्कके अन्यतम अधिनायक, उसीका मैं एक हिस्सेदार बन गया। जिसे सोना-हुआ हिस्सेदार कहते हैं, बिलकुल वैसा नहीं। खूब अच्छी तरह लगाम लगाकर मुझे जोत दिया गया आफिसके काममें। इस कामसे मेरे शरीर और मनका मेल नहीं बैठा। मेरी इच्छा थी कि जंगल-विभागमें कहीं परिदर्शकका काम दखल करूँ, खुली हवामें दौड़-धूप करता रहूँ और शिकारका भी शौक मिटाऊँ। पिताजीकी दृष्टि थी प्रतिष्ठाकी तरफ। उन्होंने कहा, 'जो काम मिल रहा है वह आसानीसे नहीं जुटता हिन्दुस्थानियोंके भाग्यमें।' हार माननी पड़ी। इसके सिवा, मालूम होता है कि पुरुषोंकी प्रतिष्ठा जैसी चीज ही औरतोंके लिए कीमती है। सुनेत्राके बहनोई थे अध्यापक। इम्पीरियल-सर्विस थी उनकी, जिसने जनानखानेमें उनका सिर ऊँचा कर रखा था। अगर मैं जंगली इन्स्पेक्टर होकर हैट पहनके बाघ-भालूके चमड़ेसे जमीन भी ढक देता, तो भी वह मेरे शरीरका गुरुत्व घटाये ही रखता, और साथ ही, अन्य पदस्थ पड़ोसियोंकी तुलनामें पदका गौरव भी घटा देता। क्या मालूम ऐसी लाघवता शायद स्त्रियोंके आत्माभिमानको चोट पहुंचाती होगी!

इधर कुरसी-टेबिलसे बँधे स्थावरत्वके दबावसे देखते-देखते मेरे यौवनकी धार मोंथरी हुई जा रही थी। और-कोई पुरुष होता, तो वह इस बातको निश्चिन्त मनसे भूलकर पेटकी परिधि बढ़नेको बुरी बात न समझता। मुझसे ऐसा नहीं हो सकता। मैं जानता हूँ कि सुनेत्रा सिर्फ मेरे गुणोंपर मुग्ध हुई हो, सो बात नहीं,—वह मुग्ध हुई थी मेरे शरीर-सौष्ठवपर। विधाताके अपने हाथकी बनी जिस वरमालाको पहनकर मैंने एक दिन उसे वरण किया था, उसकी निश्चितरूपसे जरूरत है प्रतिदिनकी अभ्यर्थनामें। आश्चर्यकी बात तो यह है कि सुनेत्राका यौवन आज भी ज्यों-का-त्यों बना-हुआ है, देखते-देखते मैं ही बढ़ता चला जा रहा हूँ ढलतीकी तरफ,— मेरे तो सिर्फ बैङ्कमें रुपये जमा हो रहे हैं।

हम-दोनोंके मिलनके प्रथम अभ्युदयको फिर एक बार प्रत्यक्ष आँखोंके

सामने लाकर रख दिया मेरी लड़की अरुणाने। हमारे जीवनका वह ऊषारुण राग दिखाई दिया है आज उसके तारुण्यके नव-प्रभातमें। देखकर पुलकित हो उठता है मेरा सम्पूर्ण मन। और, शैलेन्द्रकी तरफ देखता हूं, तो उसकी देहमें भी अपनी ही उस दिनकी उमरको आविर्भूत पाता हूँ। यौवनकी वही क्षिप्र शक्ति है, वही परिपूर्ण प्रफुल्लता है, और है क्षण-क्षणमें प्रतिहत दुराशासे म्लायमान उत्साहकी उत्कण्ठा। उस दिन मैं जिस पथपर चलता था, उसके सामने भी वही पथ है,—ठीक वैसे ही वह अरुणाकी माका मन वश करनेके नाना कारणोंकी सृष्टि कर रहा है। केवल मैं ही यथेष्ट लक्ष्यगोचर नहीं हो रहा। दूसरी ओर अरुणा मन-ही-मन जानती है कि उसका पिता समझता है लड़कीकी व्यथा। किसी-किसी दिन न-जाने क्यों अपनी आँखोंमें अदृश्य करुणा लिये वह चुपचाप आ बैठती है मेरे पैरोंके पास मोंढ़ेपर। उसकी मा निष्ठुर हो सकती है, मैं नहीं हो सकता।

अरुणाके मनकी बात उसकी मा समझती न हो, सो बात नहीं; किन्तु उसकी धारणा है कि यह सब-कुछ 'प्रभाते मेघाडम्बरम्' है, दिन चढ़ते ही सब बिला जायगा। यहीं सुनेत्राके साथ मेरा मतभेद है। भूख मिटाये बगैर भूखको मारा ही न जा सकता हो, सो बात नहीं,—दूसरी बार जब थाली परोसी जायगी तब हृदयकी रसनामें नवीन प्रेमका स्वाद जो जाता रहेगा! दोपहरको भोरकी तान छेड़ी जाय तो वह ठीक नहीं बैठती। अभिभावक कहेंगे, 'पहले विचार करनेकी उमर होने दो, उसके बाद' इत्यादि। किन्तु हाय, मुश्किल तो यह है कि विचार करनेकी उमर सदा प्रेमकी उमरके उलटी तरफ ही रहती है।

कुछ दिन पहले आया था 'भरे बादर माह भादर'। घन-वर्षाकी ओटमें कलकत्ताके ईंट-पत्थरके मकान मुलायम मालूम होने लगे, शहरकी प्रखर मुखरता अश्रु-गद्गद कण्ठस्वरकी तरह हो गई वाष्पाकुल। अरुणाकी मा जानती थी कि अरुणा मेरी लाइब्रेरीमें बैठी परीक्षाकी पढ़ाई कर रही है। मैं एक किताब लाने गया तो देखा कि मेघाच्छन्न दिनान्तकी सजल छायामें खिड़कीके सामने वह चुपचाप बैठी है,—बाल बिखर रहे हैं और पुरबैया बयारसे बौछारकी बूँदें आ-आकर पड़ रही हैं उसके बालोंपर।

सुनेत्रासे मैंने कुछ नहीं कहा। उसी क्षण शैलेन्द्रको मैंने चायका निमन्त्रण भेज दिया। मोटर भेज दी उसके घर। शैलेन आया। उसका अकस्मात् आविर्भाव सुनेत्राको पसन्द नहीं है, इतना समझना मेरे लिए कठिन न था। फिर भी मुझसे रहा न गया। शैलेनसे मैंने कहा, "गणितमें मेरा जितना दखल है उससे आजकी फिजिक्सकी थाह पाना मेरे लिए मुश्किल है, इसीसे तुम्हें बुला भेजा। कोअण्टम् थ्योरीको यथासाध्य समझ लेना चाहता हूं, मेरी पुराने जमानेकी विद्याकी धार जरूरतसे ज्यादा मोंथरी हो गई है।"

कहना व्यर्थ है कि विद्याकी चर्चा ज्यादा आगे नहीं बढ़ी। मेरा निश्चित विश्वास है कि अरुणा अपने पिताकी चातुरी समझ गई होगी और मन-ही-मन बोली भी होगी कि 'ऐसे आदर्श पिता और किसी परिवारमें आज तक नहीं हुए।' कोअण्टम् थ्योरीकी चर्चा शुरू होते ही बज उठी टेलिफोनकी घण्टी। भड़भड़ाकर उठ खड़ा हुआ मैं, बोला, "जरूरी कामकी पुकार है। तब तक तुमलोग एक काम करो, टेनिस खेलो। छुट्टी पाते ही मैं आ जाऊँगा।"

टेलिफोनमें आवाज आई, "हैलो, आपका नम्बर क्या है, बारह सौ सत्रह?"

मैंने कहा, "नहीं, सत्रह सौ बारह।"

दूसरे ही क्षण नीचेकी बैठकमें जाकर एक बासी अखबार उठाकर पढ़ने लगा। अँधेरा हो आया, बत्ती जला दी। इतनेमें सुनेत्रा आ गई। चेहरा काफी गम्भीर था। मैंने हँसते हुए कहा, "मिटिऑरॉलॉजिस्ट तुम्हारा चेहरा देखते ही आँधीका सिगनल दे देगा।" मेरे मजाकमें शरीक न होकर सुनेत्राने कहा, "क्यों तुम शैलेनको इस तरह प्रश्रय दिया करते हो बार-बार?" मैंने कहा, "प्रश्रय देनेवाला व्यक्ति अदृश्यमें है, उसीकी अन्तरात्मामें।"

सुनेत्रा बोली, "उनका मिलना-जुलना कुछ दिन बन्द रखा जाय तो यह लड़कपन अपने-आप ही मिट जायगा।"

"उनके लड़कपनको मारनेके लिए मैं क्यों कसाई बनूं? दिन बीत जायेंगे, उमर बढ़ेगी,—ऐसा लड़कपन फिर तो उन्हें कभी मिलनेका नहीं।"

"तुम ग्रह-नक्षत्र कुछ नहीं मानते, मैं मानती हूँ। उनका मिलन नहीं हो सकता।"

"ग्रह-नक्षत्र कहाँ किस तरह मिले हैं, आँखोंसे दिखाई नहीं देते : किन्तु ये दोनों हृदयसे मिल चुके हैं, यह तो स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है।"

"तुम नहीं समझोगे मेरी बात। लड़की हो चाहे लड़का, पैदा होते ही उनका साथी तय-हुआ रहता है। मोहकी छलनामें अगर और-किसीको चुन लिया जाय तो उसमें अज्ञात असतीत्वका पाप लगता है। और उसकी सजा भी मिलती है नाना दुःख-कष्टोंमें।"

"यथार्थ साथीको पहचाननेका उपाय क्या है?"

"होता वही है जो होनहार होता है, उसपर ग्रह-नक्षत्रोंके अपने हाथके दस्तखत रहते हैं।"

३

अब छिपाया नहीं जा सकता। मेरे ससुर थे अजितकुमार भट्टाचार्य। खानदानी पण्डित-वंशमें उनका जन्म हुआ था। बचपन बीता था चतुष्पाठीकी आब-हवामें। बादमें कलकत्ता आकर कालेजसे डिग्री ली, गणितमें एम-ए थे वे। फलित ज्योतिषमें उनका जैसा विश्वास था वैसी ही व्युत्पत्ति। उनके पिता थे पक्के नैयायिक, ईश्वर थे उनके मनसे असिद्ध। मेरी तरह वे भी देव-देवी नहीं मानते थे, इस बातका प्रमाण मिल चुका है। उनका सारा-का-सारा बेकार विश्वास भीड़-किये आ पड़ा था ग्रह-नक्षत्रोंपर। उसे दकियानूसी भी कहा जा सकता है। उसी घरमें पैदा हुई है सुनेत्रा। बचपनसे ही उसके चारों तरफ ग्रह-नक्षत्रोंका कड़ा पहरा रहा है।

और, मैं था अपने अध्यापकका प्रिय छात्र। सुनेत्राको भी शिक्षा देते थे उसके पिता। परस्पर मिलनेका मौका मिला था बार-बार। हाथ-आया मौका व्यर्थ नहीं गया, इसकी खबर बेतार-विद्युत्वार्तासे मुझे भी मिल गई थी। मेरी सासका नाम था विभावती। पुराने जमानेकी चहारदीवारीके भीतर ही उनका जन्म हुआ था, किन्तु पतिके संसर्गसे उनका मन हो गया था संस्कारोंसे मुक्त, स्वच्छ। पतिमें और उनमें भेद इतना ही था कि वे ग्रह-नक्षत्रोंको बिलकुल

नहीं मानती थीं, मानतीं थीं सिर्फ अपने इष्ट-देवताको । इसपर पतिसे एक दिन उन्होंने हँसी-हँसीमें कह दिया था, "डरके मारे तुम तो पियादोंको सलाम देते फिरते हो,– मैं मानती हूं सिर्फ एक राजाको ।"

पतिने कहा, "धोखा उठाओगी । राजा रहे तो तैसे ही, न रहे तो तैसे ही,– दरबारकी ड्योढ़ीपर कँधेपर लाठी लिये पियादे जरूर रहेंगे ।"

सासने कहा, "धोखा उठाना अच्छा । ड्योढ़ीमें पियादोंकी पनहियोंके नीचे सिर झुकाना मुझे मंजूर नहीं ।"

मेरी सासका मुझपर बहुत ज्यादा स्नेह था । उनसे मेरे मनकी बातें छिपी नहीं थीं ।

मौका पाकर मैंने एक दिन उनसे कहा, "मा, तुम्हारे कोई लड़का नहीं, अपनी लड़की देकर मुझे अपने लड़केकी जगह दे दो न ! तुम्हारी सम्मति मिल जाय, तब फिर पण्डितजीके चरणोंकी शरण लूंगा ।"

उन्होंने कहा, "पण्डितजीके पास पीछे जाना, बेटा, पहले अपनी जन्मपत्री ला दो मुझे ।"

जन्मपत्री ला दी मैंने । उन्होंने कहा, "मुश्किल है । पण्डितजीकी सम्मति हरगिज नहीं मिलनेकी । और पण्डितजीकी लड़की भी बापकी ही शिष्या है ।"

मैंने पूछा, "और लड़कीकी मा ?"

उन्होंने कहा, "मेरी बात न पूछो । मैं तुम्हें जानती हूँ, अपनी लड़कीका मन भी जानती हूं, इससे ज्यादा जाननेके लिए नक्षत्रलोक तक दौड़नेका शौक नहीं मुझे ।"

मेरा मन हो उठा विद्रोही । मैंने कहा, "इस तरहकी अवास्तव बाधाओंको मानना ही अन्याय है । किन्तु जो 'अवास्तव' है, उसकी देहपर जो चोट नहीं पहुँचाई जा सकती ! उसके साथ लड़ूँ तो कैसे लड़ूँ ?"

उधर लड़कीके सम्बन्धकी बात चलने लगी कई जगहोंसे । उनमें ऐसे भी कई प्रस्ताव थे जिनमें ग्रह-नक्षत्रोंकी असम्मति नहीं । लड़की जिद पकड़ बैठी कि वह आजीवन कुमारी ही रहेगी, विद्याकी साधनामें ही वह अपना सारा जीवन बिता देगी ।

बाप इसके मानी न समझ सके, उनको याद आ गई लीलावतीकी बात। मा समझ गईं; और एकान्तमें आँसू भर-भर आने लगे उनकी आँखोंमें।

आखिर एक दिन उन्होंने मेरे हाथमें सुनेत्राकी जन्मपत्री देते-हुए कहा, "यह लो सुनेत्राकी जन्मपत्री। इसे दिखाकर अपनी जन्मपत्री ठीक करा लो। अपनी लड़कीका अकारण दुःख मैं नहीं सह सकती।"

बादमें क्या हुआ, कहनेकी जरूरत नहीं। जन्मपत्रीके अङ्कजालसे सुनेत्राको मैं उद्धार कर लाया। आँसू पोंछते-हुए माने कहा, "तुमने बड़ा पुण्यका काम किया, बेटा!"

उसके बाद इक्कीस वर्ष बीत चुके हैं।

४

हवाका जोर बढ़ता ही गया, और वर्षा भी बन्द नहीं हुई। मैंने सुनेत्रासे कहा, "बत्ती नहीं सुहाती, बुझाये देता हूँ।" और बत्ती बुझा दी।

वर्षाकी धारामेंसे छन-छनकर सड़ककी बत्तीका धुँधला प्रकाश आने लगा अँधेरे कमरेमें। सोफेपर मैंने अपने पास बिठा लिया सुनेत्राको। कहा, "सुनो, अपना यथार्थ साथी मानती हो तुम मुझे?"

"यह कैसा सवाल तुम्हारा? इसका भी जवाब देना पड़ेगा क्या?"

"तुम्हारे ग्रह-नक्षत्र अगर न मानें?"

"जरूर मानेंगे,—मैं नहीं जानती क्या?"

"इतने दिन तो बिता चुके हम एकसाथ, किसी दिन कोई संशय उठा है क्या तुम्हारे मनमें?"

"ऐसी फालतू बात करोगे तो मैं गुस्सा हो जाऊँगी।"

"सुनो, हम दोनोंने एकसाथ बहुत दुःख उठाये हैं बहुत बार। पहला बच्चा मरा है आठ महीनेका होकर। टाइफायेडमें जब मैं मरणासन्न था तब पिताजीकी मृत्यु हो गई। बादमें देखा कि जाली वसीयतनामा बनाकर भाई साहबने सारी सम्पत्ति हड़प ली। आज नौकरी ही एकमात्र जरिया है मेरी

आमदनीका। तुम्हारी माका स्नेह ही था मेरे जीवनका एकमात्र ध्रुवतारा। पूजाकी छुट्टियोंमें देश जाते समय पतिके साथ उनकी भी मृत्यु हो गई मेघना नदीमें नाव डूब जानेसे। मैंने देखा कि सांसारिक-विषय-बुद्धिहीन अध्यापक काफी कर्ज छोड़ गये हैं, उस कर्जको भी स्वीकार कर लिया मैंने। कैसे समझूँ मैं कि ये सारी दुर्घटनाएँ मेरे ही दुष्टग्रहोंने नहीं घटाईं? पहलेसे अगर जान जातीं तुम, तो, मुझसे तो ब्याह नहीं करतीं?"

सुनेत्राने कोई जवाब नहीं दिया, मेरे गलेमें बाँह डालकर रह गई।

मैंने कहा, "सब दुःख और दुर्लक्षणोंसे प्रेम ही बड़ा है, हमारे जीवनसे क्या इसी बातका प्रमाण नहीं मिला?"

"मिला है, जरूर मिला है।"

"मान लो, अगर ग्रहके अनुग्रहसे तुम्हारे पहले ही मेरी मृत्यु हो जाय, तो क्या उस भावी क्षतिकी मैंने अपने जीवनमें ही पूर्ति नहीं कर दी?"

"बस बस, रहने दो, अब कुछ न कहो।"

"सावित्रीके लिए सत्यवानका एक दिनका मिलन भी चिर-विच्छेदसे बड़ा था,– वे तो नहीं डरीं मृत्युग्रहसे?"

सुनेत्रा चुप बनी रही। मैंने कहा, "तुम्हारी अरुणा प्यार करती है शैलेनको, इतना ही जान लेना काफी है हमारे लिए,- बाकीका सब रहने दो अज्ञान। क्यों, ठीक है न?"

सुनेत्राने कुछ जवाब नहीं दिया।

"तुमसे जब प्रथम प्रेम आरम्भ हुआ मेरा, तब कितने विघ्न सामने आये थे, याद है? किन्तु अब मैं दूसरी बार अपने परिवारमें उस निष्ठुर दुःखको नहीं आने दूंगा किसी भी ग्रहकी मन्त्रणासे। दोनोंकी जन्मपत्रीके अङ्क मिला कर संशयको न्योता मैं हरगिज नहीं दे सकता।"

ठीक इसी समय सीढ़ियोंमें पैरोंकी आहट सुनाई दी। शैलेन उतरके चला जा रहा था।

सुनेत्रा जल्दीसे उठके बाहर आकर उससे बोली, "क्यों, बेटा शैलेन, चल दिये क्या?"

शैलेन डरता-हुआ बोला, "हाँ, काफी देर हो गई,– घड़ी नहीं थी, इससे मालूम ही न पड़ा कितनी देर हो गई !"

सुनेत्राने कहा, "नहीं, देर कुछ भी नहीं हुई। आज रातको तुम्हें यहीं खाना पड़ेगा। खाके जाना,– चलो, ऊपर चलो।"

इसीको कहते हैं 'प्रश्रय'।

उसी रातको मैंने अपनी जन्मपत्रीका शुरूसे आखीर तक सारा इतिहास सुनेत्राको कह सुनाया।

उसने कहा, "न कहते तो अच्छा था।"

"क्यों ?"

"अबसे बराबर डर बना रहेगा।"

"डर किस बातका ? वैधव्य-योगका ?"

बहुत देर तक चुप बनी रही सुनेत्रा। उसके बाद बोली, "नहीं, नहीं, डरूंगी नहीं मैं। मैं अगर तुम्हें अकेला छोड़कर चली जाऊं तो मेरी मौत होगी दूनी मौत !"

बंगला-रचना : कार्तिक १९९०

हिन्दी-अनुवाद : आषाढ़ २००६

स्त्रीकी चिट्ठी

श्रीचरणकमलोंमें—

ब्याह हुए आज पन्द्रह साल हो गये। आज तक कभी मैंने तुम्हें चिट्ठी नहीं लिखी। हमेशा तुम्हारे पास ही पड़ी रही। मेरे हकी मुँबात तुम बहुत सुन चुके हो, मैंने भी सुनी हैं, किन्तु चिट्ठी लिखनेका मौका कभी नहीं आया।

आज मैं चली आई हूँ तुमसे दूर, तीर्थ करने श्रीक्षेत्र पुरीमें। और तुम लगे-हुए हो अपने आफिसके काममें। कलकत्ताके साथ तुम्हारा वैसा ही सम्बन्ध है जैसा घोंघाके साथ उसकी खोलका। कलकत्ता तुम्हारे तन-मनसे मिलकर एक हो गया है, इसीसे तुमने आफिससे छुट्टी नहीं ली। विधाताका ऐसा ही अभिप्राय था, उन्होंने मेरी छुट्टी मंजूर कर ली।

मैं तुम्हारे घरकी 'मझली बहू' हूं। आज पन्द्रह साल बाद पुरीमें इस समुद्रके किनारे खड़ी मैं समझ रही हूं कि जगत् और जगदीश्वरके साथ मेरा अन्य सम्बन्ध भी है। इसीसे आज हिम्मत करके यह चिट्ठी लिख रही हूँ। इसे तुम 'अपने घरकी मझली बहूकी चिट्ठी' न समझना।

तुम्हारे साथ मेरे सम्बन्धका पक्का लेख लिखनेवाले विधाताके सिवा जब कि इसकी सम्भावनाकी बात कोई नहीं जानता था तब, उस बचपनमें, मैं और मेरा भाई दोनों एकसाथ सख्त बीमार पड़ गये थे, दोनोंको सन्निपात हो गया था। भाई मर गया, और मैं बच गई। मुहल्लेकी सभी स्त्रियाँ कहने लगीं, 'मृणाल लड़की है न, इसीसे बच गई। लड़का होती तो क्या बच सकती थी!' चोरीकी कलामें यमराज सिद्धहस्त हैं, और कीमती चीजपर ही उनका ज्यादा लोभ है।

मेरा मरण नहीं है। इसी बातको अच्छी तरह समझानेके लिए यह चिट्ठी लिख रही हूँ।

जिस दिन तुम्हारे दूरके रिश्तेके मामा तुम्हारे मित्र नीरदको साथ लेकर 'लड़की देखने' गये थे, तब मेरी उमर थी बारह सालकी। दुर्गम देहातमें मेरा

मायका है, जहाँ दिनमें सियार बोला करते हैं। स्टेशनसे सात कोस मझोलीमें और बाकी डेढ़ कोस पालकीमें चलनेके बाद तब कहीं उस गाँवमें पहुँचा जा सकता है। उस दिन उनलोगोंको कैसी परेशानी उठानी पड़ी होगी, सो वे ही जानते होंगे। उसपर हमारे यहाँका देहाती खाना-पीना। रसोईके उस प्रहसनको मामाजी आज तक नहीं भूले।

तुम्हारी माकी कठोर जिद थी कि वे अपनी 'बड़ी बहू' के रूपकी कमीको 'मझली बहू' से पूरा करके ही छोड़ेंगी। नहीं तो इतना कष्ट उठाकर देहातमें कोई क्यों आने लगा? बंगालमें पिलही, यकृत, अम्लशूल और लड़की, इन बीमारियोंके लिए किसीको कोई खोज नहीं करनी पड़ती: ये खुद ही आकर चुपट जाती हैं और छोड़नेका नाम भी नहीं लेतीं।

मेरे बापूजीकी छाती धड़कने लगी, मा दुर्गा-नाम जपने लगीं। शहरके देवताको देहातके पुजारी कैसे सन्तुष्ट करें, कुछ तय न कर सके। एकमात्र भरोसा था लड़कीके रूपका; पर उस रूपका गौरव तो खुद लड़कीमें नहीं है, जो उसे देखने आये हैं उनकी निगाहोंमें है। असलमें वे जो कीमत आँकेंगे वही उसकी कीमत है। इसीसे, रूप-गुण हजार हों तो भी, स्त्रियोंका उससे सङ्कोच दूर नहीं होता।

सारे घरका, यहाँ तक कि मुहल्ले-भरका सारा आतङ्क मेरी छातीमें पत्थर-सा जमकर बैठ गया। उस दिन आकाशका सारा प्रकाश और संसारकी सम्पूर्ण शक्ति एक बारह सालकी देहाती लड़कीको दो परीक्षकोंकी चार आँखोंके सामने मजबूतीसे उठाये रखनेमें मानो पियादेका काम कर रही थी: मेरे लिए छिपनेकी कहीं कोई जगह ही नहीं रही।

सम्पूर्ण आकाशको कँपाती-हुई शहनाई बजने लगी। मैं तुम्हारे घर पहुँची। मेरे तमाम नुक्सोंको विस्तारके साथ खताकर गृहिणियोंके दलने अन्तमें स्वीकार कर लिया कि 'बहू है तो सुन्दरी।' इस बातको सुनकर मेरी जिठानीका मुँह फूल गया। पर, मैं सोचती हूँ, मेरे इस रूपकी जरूरत क्या थी! 'रूप' वस्तुको अगर कोई प्राचीनकालके पण्डित गङ्गाकी मिट्टीसे गढ़ते, तो, मैं सच कहती हूं, तुम्हारे धार्मिक परिवारमें उसकी कोई कीमत नहीं होती।

किन्तु, तुम्हें इस बातको भूलनेमें ज्यादा दिन नहीं लगे कि मैं रूपवती हूं। मगर मेरे बुद्धि है, यह बात तुमलोगोंको कदम-कदमपर याद करनी पड़ी है। वह बुद्धि मेरी इतनी ज्यादा स्वाभाविक है कि तुम्हारी घर-गृहस्थीमें इतने दिन बिता देनेके बाद भी अब तक वह टिकी ही हुई है। मा मेरी इस तीक्ष्ण बुद्धिके लिए अत्यन्त उद्विग्न रहा करती थीं कि स्त्रियोंके लिए यह एक बला ही है। जिन्हें बाधाएं मानकर चलना होता है वे अगर बुद्धिको मानकर चलना चाहें, तो ठोकर खाते-खाते उनका कपार फूटेगा ही। लेकिन उपाय क्या है, बताओ? तुम्हारे घरकी बहूके लिए जितनी बुद्धिकी जरूरत है, विधाता असावधानीसे मुझे उससे बहुत ज्यादा दे बैठे, तो मैं अब उसे किसे लौटा दूं, बताओ? तुमलोगोंने इस बुद्धिके लिए मुझे रात-दिन कोसा है और बुरा-भला भी कहा है। 'कड़ुई बात' असमर्थके लिए 'सान्त्वना' है, लिहाजा मैं क्षमा करती रही।

मेरी एक चीज तुम्हारी घर-गृहस्थीके बाहर थी, उसका किसीको कुछ पता न था। मैं छिपे-छिपे कविताएं लिखा करती थी। कविताओंमें खाक-धूल कुछ भी हो, किन्तु वहां तुम्हारे अन्तःपुरकी चारदीवारी नहीं थी। और वहीं मेरी मुक्ति थी, कारण वहां मैं 'मैं' थी। मेरे अन्दर तुम्हारी 'मझली बहू' के सिवा और जो-भी-कुछ है, उसे तुमलोगोंने पसन्द नहीं किया, और न पहचान ही सके कोई। मैं कवि हूं, यह बात पन्द्रह सालमें भी तुमलोगोंकी बुद्धिके अगोचर रही।

तुम्हारे घरकी प्राथमिक स्मृतियोंमें जो सबसे ज्यादा मेरे मनमें जाग रही है वह है 'ग्वालघर'की स्मृति। अन्तःपुरके जीनेके बगलमें ही तुम्हारी गायें बँधती हैं, सामनेके आँगनके सिवा उनके लिए हिलने-डुलनेकी और-कोई जगह नहीं। उस आँगनके एक कोनेमें उनकी नाँदें हैं। सवेरे नौकरोंको बहुतसे काम रहते, और भूखी गायें तब तक उन नाँदोंको जीभसे चाट-चाटकर और दाँतोंसे खुरच-खुरचकर साफ कर दिया करती थीं। मेरे प्राण तब भीतरसे रो उठते थे मैं देहातकी लड़की ठहरी,—जिस दिन तुम्हारे घर नई-नई पहुंची उस दिन सारे कलकत्ता शहरमें केवल तुम्हारे यहाँकी दो गायें और तीन

बछड़े ही मुझे सबसे ज्यादा परिचित और अपने मालूम हुए थे। जब तक मैं नई ब्याहली रही तब तक खुद न खाकर मैं छिपा-छिपाकर उन्हींको खिलाती रही; जब कुछ बड़ी हुई तब गायोंके प्रति मेरी प्रकट ममता देखकर मजाकके रिश्तेवाले मेरे गोत्रके सम्बन्धमें सन्देह प्रकट करने लगे !

मेरी बच्ची जनमते ही मर गई। उस समय मेरी भी पुकार हुई थी, पर बच गई। लड़की अगर जिन्दा रहती, तो वह मेरे जीवनमें जो-कुछ महान था, जो-कुछ सत्य था, उसे अवश्य प्रकट होनेका मौका देती। तब मैं 'मझली बहू'से एकदम 'मा' बन बैठती,—मा जो एक परिवारमें रहती-हुई भी विश्व-परिवारकी होती है। मा होनेका कष्ट पाया, पर मा होनेकी मुक्ति नहीं पा सकी।

याद है, अंगरेज डाक्टर हमारा अन्तःपुर देखकर कैसा दंग रह गया था और मेरी 'सौरी' देखकर कितना नाराज हुआ था ! बाहरवाले मकानके सामने बगीचा है। कमरोंमें सजावटकी हद नहीं। और भीतरवाला मकान मानो रेशम-पशमके कामका उलटा है; उधर न कोई सजावट है, न सुन्दरता है और न लज्जा। उस दिन भीतरकी बत्तियाँ भी टिमटिमा रही थीं। हवा चोरकी तरह घुस रही थी। आँगनमें कूड़े-कचड़ेकी कमी नहीं थी, दीवार और फर्शपर नाना प्रकारके कलङ्क-चिह्न अक्षयरूपमें विराज रहे थे। लेकिन, डाक्टरने एक गलती की थी; उसने समझा था कि यह सब हमें दिन-रात दुःख दिया करता है। असलियत ठीक इससे उलटी थी। अनादर चीज राख जैसी है। राख आगको शायद भीतर-ही-भीतर जमाये रखती है; किन्तु बाहरसे गरमीको नहीं समझने देती। आत्म-सम्मान जब घट जाता है तब 'अनादर' अन्याय नहीं मालूम होता। फिर उसके लिए कोई वेदना नहीं होती। यही वजह है कि स्त्रियाँ दुःख महसूस करनेमें भी शरमाती हैं। इसीसे, मेरा कहना है कि 'स्त्रियोंको दुःख पाना ही होगा'—यही अगर तुमलोगोंकी व्यवस्था हो, तो जहाँ तक बने, उन्हें अनादरसे रखना ही अच्छा है। आदरसे सिर्फ दुःखकी व्यथा ही बढ़ती है।

चाहे जैसे भी रखो, इस बातका कभी किसी दिन खयाल ही नहीं आता कि दुःख है। 'सौरी'में मौत सिरपर आ खड़ी हुई,—मनमें कोई डर ही नहीं

हुआ। हमारा जीवन ही क्या है जो मौतसे डरा जाय ? आदर और यत्नमें जिनके प्राणोंके बन्धनको मजबूत बना दिया है, मरना उन्हींको अखरता है। उस दिन यम अगर मुझे पकड़कर खींचता तो नरम मिट्टीमेंसे दूब जैसे जड़ समेत उखड़ आती है वैसे ही बड़ी आसानीसे मैं उठ आती। भारतीय स्त्रियाँ तो बात-बातपर मरना चाहती हैं। पर ऐसे मरनेमें बहादुरी क्या है ? हमारे लिए मरना इतना आसान है कि मरनेमें शरम आती है।

मेरी लड़की तो सन्ध्या-ताराकी तरह क्षण-भरके लिए उदय होकर तुरत ही अस्त हो गई। फिर मैं अपने नित्य-कर्म और गाय-बछड़ोंके काममें लग गई। जीवन इसी तरह लुढ़कते-लुढ़कते अपनी मंजिल पूरी कर देता ; आज तुम्हें चिट्ठी लिखनेकी नौबत ही न आती। किन्तु, हवा मामूली-सा एक बीज उड़ा लाकर पक्के आँगनमें भी बड़का अङ्कुर उगा देती है ; और आगे चल कर वही छोटा-सा अङ्कुर ईंट-पत्थरकी छातीकी पसलियोंको भी विदीर्ण कर देता है। हमारी घर-गृहस्थीके पक्के बन्दोबस्तके बीच छोटे-से जीवनका एक कण न-जाने कहाँसे उड़के आ पड़ा, और फिर उसने विदीर्ण करना शुरू कर दिया।

विधवा माकी मृत्युके बाद मेरी जिठानीकी छोटी बहन बिन्दुने अपने चचेरे भाइयोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर जिस दिन अपनी जीजीके घर आकर आश्रय लिया, उस दिन तुमलोगोंने सोचा कि 'यह कहाँकी बला आ गई' ! मेरा जला-स्वभाव ही ऐसा है, करूं तो क्या, बताओ, — जब देखा कि तुमलोग सब-के-सब मन-ही-मन उससे असन्तुष्ट हो, तो उस निराश्रय लड़कीके बगलमें जाकर मेरा सम्पूर्ण मन मानो कमर कसके जा खड़ा हुआ। पराये घर, उनकी इच्छाके खिलाफ आकर आश्रय लेना कितना बड़ा अपमान है, मैं समझती हूं। लाचारीसे वह भी जिसे स्वीकार करना पड़ा, उसे क्या धक्का देकर दूर फेंका जा सकता है ? फिर मैंने देखी जिठानीकी दशा। उन्होंने अत्यन्त दया-परवश होकर अपनी बहनको अपने पास बुलाया था। किन्तु, जब देखा कि पतिकी इच्छा नहीं है, तो उन्होंने ऐसा भाव धारण किया कि मानो वे भी नहीं रखना चाहतीं ऐसी बलाको। इतना भी उनमें साहस न रहा कि अपनी उस अनाथा बहनको मुँह खोलकर स्नेहके दो शब्द भी कह सकें। वे थीं पतिव्रता।

उनका यह सङ्कट देखकर मेरा मन और भी व्यथित हो उठा। देखा कि उन्होंने खास तौरसे सबको दिखाते-हुए बिन्दुके लिए खाने-पहननेकी ऐसी रूखी व्यवस्था की कि उसकी हालत नौकरानियोंसे भी गई-बीती हो गई, और उससे मुझे केवल दुःख ही नहीं, लज्जा होने लगी। जिठानी सबके आगे इस बातका प्रमाण पेश करने लगीं कि उनके घरमें बिन्दु बहुत ही सस्ती पड़ रही है! वह काम करती है बहुत, और लेती है बहुत थोड़ा!

मेरी जिठानीके मायकेवालोंके पास सिवा एक उच्चकुलके दूसरी कोई चीज नहीं थी; न रूप था और न रुपया। जिठानीजीके पिता कैसे-कैसे और ससुर साहबकी कितनी खुशामद करनेके बाद इस खानदानमें अपनी लड़की दे सके थे, सो सब तुम जानते ही हो। जिठानीजी भी इस वंशमें अपने ब्याहको हमेशासे एक बड़ा अपराध ही समझती आई हैं। इसीलिए सभी विषयोंमें वे अपनेको यथासाध्य सङ्कुचित करके तुम्हारे घरमें बहुत कम जगह घेरे-हुए रहती हैं।

किन्तु, उनके इस साधु-दृष्टान्तने मेरे लिए बड़ी मुश्किल खड़ी कर दी। मैं सब तरफसे इतने असम्भव-रूपसे अपनेको छोटा नहीं कर सकती थी। मैं जिसे अच्छा समझती हूं, और-किसीकी खातिरसे मैं उसे बुरा नहीं मान सकती। मेरे लिए इस तरहका आत्म-संयम आत्मघातसे भी बढ़कर है।—तुम्हें भी इस बातका काफी प्रमाण मिल चुका है।

बिन्दुको मैंने अपने घरमें खींच लिया। जिठानीजीने कहा, "मझली बहू गरीबकी लड़कीको बरवाद करके छोड़ेगी।" मानो मैंने कोई बड़ा-भारी सङ्कट पैदा कर दिया हो,—इस ढंगसे वे मेरे खिलाफ चारों तरफ फरियाद करती फिरीं, किन्तु, मैं निश्चित जानती हूं कि वे भीतर-ही-भीतर सन्तोष पाकर जी गईं। अब दोषका सारा बोझा आ पड़ा मेरे ऊपर। वे खुद बहनके प्रति बिलकुल स्नेह नहीं दिखा सकती थीं, किन्तु इस तरह मुझसे उसकी क्षतिपूर्ति कराकर उनका मन हलका हो जाता था। जिठानीजी बिन्दुकी उमरमेंसे दो-चार संख्या निकाल देनेकी कोशिश किया करतीं; किन्तु, उसकी उमर चौदहसे कम नहीं, यह बात छिपाकर कहनेमें कोई हर्ज नहीं था। तुम तो जानते हो, वह देखनेमें ऐसी बुरी थी कि फर्शपर गिरकर अगर वह अपना सिर भी फोड़ लेती, तो लोग

फर्शके लिए ही उद्विग्न हो उठते, उसके सिरके लिए नहीं। लिहाजा, उसके पिता-माताके अभावमें कोई भी उसके ब्याहके लिए चिन्तित न था, और सच तो यह है कि उससे ब्याह करनेको तैयार हो जाय, इतना जबरदस्त मनोबल होता भी कितनोंके है!

बिन्दु बहुत ही डरती-डरती मेरे पास आई, मानो मुझसे उसका स्पर्श न सहा जायगा। संसारमें मानो उसके जन्म लेनेकी कोई बात नहीं थी, इसीसे वह सबसे बचकर और सबकी निगाह बचाकर, चलती थी। उसके बापके घरमें उसके चचेरे भाइयोंने उसके लिए इत्ती-सी भी जगह नहीं छोड़नी चाही जितनी जगहमें कोई अनावश्यक चीज पड़ी रहती है। अनावश्यक कूड़ा-करकट घरके आसपास अनायास ही जगह पा सकता है, क्योंकि आदमी उसे भूल जाता है : किन्तु अनावश्यक लड़की एक तो अनावश्यक और उसपर उसे भूलना भी मुश्किल है, इसलिए घूरेमें भी उसके लिए जगह नहीं। उसपर मजा यह कि बिन्दुके चचेरे भाई इस दुनियाके लिए परमावश्यक वस्तु हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मगर फिर भी वे बड़े मजेमें हैं।

इसीसे, बिन्दुको जब मैंने अपने पास खींच लिया, तो वह भीतर-ही-भीतर काँपने लगी। उसका डर देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने बड़ी कोशिशोंके बाद उसे यह बात समझा दी कि 'मेरे घरमें उसके लिए थोड़ी-सी जगह है।'

किन्तु, मेरा घर तो सिर्फ मेरा ही घर नहीं था, इसलिए मेरा काम सहज न हुआ। दो-चार दिन मेरे पास रहते ही उसकी देहमें लाल-लाल कुछ दाने-से उठे, या तो अमहौरी होंगी या और-कुछ होगा, तुमलोगोंने कह दिया, 'चेचक है!' क्योंकि वह बिन्दु थी। तुम्हारे मुहल्लेके एक अनाड़ी डाक्टरने आकर कह दिया, "और दो-एक दिन जाने दो, तब कुछ कहा जा सकता है।" पर 'दो-एक दिन' का वहाँ सब्र किसको था? बिन्दु तो अपनी बीमारीकी शरमके मारे ही मौतके किनारे पहुँच गई। मैंने कहा, "चेचक हो तो हुआ करे, मैं अपने उस सौरी-घरमें ही उसे लेकर रहूंगी, और-किसीको कुछ करनेकी जरूरत नहीं।" इसपर घरके सबके सब मेरे दुश्मन बन गये, यहाँ तक कि बिन्दुकी जीजी भी अत्यन्त विरक्तिका छल करके उस 'तकदीरकी ओछी' लड़कीको

अस्पताल भेजनेका प्रस्ताव करने लगीं। इतनेमें उसके लाल-लाल दाग बिलकुल बिला गये। फिर देखा कि तुमलोग पहलेसे और भी ज्यादा चञ्चल हो उठे। बोले, "जरूर चेचक बैठ गई है।" क्योंकि, वह बिन्दु थी!

अनादरमें-पले शरीरमें एक जबरदस्त गुण यह होता है कि वह अजर अमर होता है। पहले तो बीमारी होना ही नहीं चाहती, और होती भी है तो मौतका सदर दरवाजा उसके लिए बिलकुल बन्द रहता है। रोग बिन्दुके साथ महज एक मजाक कर गया, उसका बिगाड़ कुछ न कर सका। किन्तु एक बात साफ समझमें आ गई कि दुनियामें किसी अभागे आदमीको आश्रय देना ही सबसे कठिन कार्य है। आश्रयकी जरूरत जिसके लिए सबसे बढ़कर है, वाधाएँ भी उसके लिए सबसे अधिक हैं।

मेरे सम्बन्धमें बिन्दुका भय जब जाता रहा, तब, उसे और-एक बलाने धर दबाया। उसने मुझे इतना प्यार करना शुरू कर दिया कि मुझे डर लगने लगा। प्यारकी ऐसी मूर्ति तो मैंने संसारमें कभी देखी नहीं थी। किताबोंमें पढ़ा जरूर था, पर वह था स्त्री-पुरुषके बीच। बहुत दिनोंसे ऐसा कोई कारण नहीं घटा जिससे मुझे याद पड़ता कि मेरे रूप है,— इतने दिनों बाद वह रूप उस कुरूप लड़कीपर प्रकट हो गया। मेरा रूप देखते-देखते उस लड़कीकी आँखोंकी आस ही नहीं मिटती थी। कहती, "जीजी, तुम्हारा यह रूप मेरे सिवा और किसीकी नजरोंमें ही नहीं पड़ता।" जिस दिन मैं अपने बाल खुद बाँधती, उस दिन वह रूठ जाती। मेरे बालोंका बोझ अपने दोनों हाथोंसे हिलाने-डुलानेमें उसे बहुत आनन्द आता। किसी दिन कहीं निमन्त्रणमें जानेके सिवा और-कभी मुझे सजने-धजनेकी जरूरत ही नहीं थी। किन्तु बिन्दु मुझे हैरान-परेशान करके रोज ही थोड़ा-बहुत सजाना चाहती। लड़की मुझे पाकर बिलकुल पागल हो उठी।

तुम्हारे अन्तःपुरमें कहीं भी छटाक-भर खाली जमीन नहीं थी, जहां कोई पेड़ उगता। उत्तरकी तरफ दीवारके पास नालेके किनारे एक छोटा-सा जंगली पेड़ था। जब देखती कि उस पेड़में नये पत्ते लग रहे हैं तब समझ जाती कि धरातलपर वसन्त उतर आया है। मेरे रसोई-घरमें उस अनादृत लड़कीका

चित्त जिस दिन उस पेड़की पत्तियोंकी तरह हरा हो उठा उस दिन मैं समझ गई कि हृदयकी दुनियामें भी एक तरहकी वसन्तकी हवा बहती है, और वह किसी स्वर्गसे आती है, गलीकी मोड़से नहीं आती।

बिन्दुके प्यारके दुःसह वेगने मुझे अस्थिर कर दिया था। किसी-किसी दिन मुझे उसपर गुस्सा आने लगता, इस बातको मैं मानती हूँ; किन्तु उसके प्यारके भीतरसे मैंने अपना एक स्वरूप देखा, जिसे अपने जीवनमें और कभी किसी दिन नहीं देखा। वही मेरा मुक्त-स्वरूप है।

इधर बिन्दु-जैसी लड़कीपर मैं जो इतना स्नेह करती और उसे इतने लाड़ प्यारसे रखती, यह तुमलोगोंकी दृष्टिमें महज एक ज्यादती मालूम होने लगी। इसके खिलाफ किचकिच और कानाफूसीका कोई अन्त न था। जिस दिन मेरे कमरेमेंसे बाजूबन्द चोरी हो गये, उस दिन इस बातका आभास देनेमें भी तुमलोगोंको शरम नहीं आई कि 'उस चोरीमें बिन्दुका हाथ होना ही चाहिए।' जब स्वदेशी-आन्दोलनके झगड़ेमें लोगोंके घरकी तलाशियाँ होने लगीं तब तुमलोग अनायास ही सन्देह कर बैठे कि 'बिन्दु पुलिसकी गुप्तचर है।' इस बातका और-कोई प्रमाण न था, सिवा इसके कि 'वह बिन्दु है'।

तुम्हारे घरकी नौकरानियाँ तक उसका काम करनेमें आनाकानी करतीं, और मैं अगर बिन्दुके लिए किसीको कुछ कहती तो बिन्दु भी मारे सङ्कोचके सिकुड़ जाती। इन्हीं सब कारणोंसे उसके लिए मेरा खर्च बढ़ गया। मैंने खास तौरसे उसके लिए एक दासी रखी। यह तुमलोगोंको अच्छा न लगा। बिन्दुको मैं जो कपड़े पहनने देती उन्हें देखकर तुम इतने नाराज हो गये कि तुमने मुझे हाथखर्च तक देना बन्द कर दिया। उसके दूसरे दिनसे मैंने उसे सवा-रुपये जोड़ेकी मोटी धोती पहनाना शुरू कर दिया। और, मोतीकी मा जब मेरी जूठी थाली लेने आई तो मैंने उसे मना कर दिया,— मैंने खुद आँगनके नलके नीचे जाकर, थालीकी जूठन बछड़ेको खिलाकर, अपनी जूठी थाली माँजना शुरू कर दिया। एक दिन अचानक इस दृश्यको देखकर तुम खुश नहीं हुए। हमें खुश किये बिना भी तुमलोगोंका काम चल सकता है, और, तुमलोगोंको खुश बगैर किये कोई चारा ही नहीं, इतनी समझ मुझे आज तक नहीं आई।

दूसरी ओर, ज्यों-ज्यों तुमलोगोंकी नाराजी बढ़ने लगी त्यों-त्यों बिन्दुकी उमर भी बढ़ने लगी। इस स्वाभाविक बातपर तुमलोग अस्वाभाविक-रूपसे चञ्चल हो उठे। एक बातकी याद करके मैं तो आश्चर्यसे दंग रह जाती हूं कि तुमलोगोंने जबरदस्ती बिन्दुको क्यों नहीं घरसे निकाल बाहर किया! मैं खूब समझती हूँ, तुमलोग मन-ही-मन मुझसे डरते हो। विधाताने मुझे जो बुद्धि दी है, भीतर-ही-भीतर तुमलोगोंसे उसकी खातिर किये बगैर रहा नहीं जाता।

अन्तमें, बिन्दुको जब अपनी शक्तिसे न निकाल सके, तब तुमलोगोंने प्रजापतिकी शरण ली। बिन्दुके लिए लड़का ठीक किया गया। जिठानीने कहा, "जान बची, मा कालीने हमारे वंशकी लाज रख ली।"

लड़का कैसा था, सो मुझे नहीं मालूम। तुम्हीं लोगोंके मुँहसे सुना था कि 'अच्छा है'। बिन्दु मेरे पैरोंसे लिपटकर रोने लगी, बोली, "जीजी, मेरा ब्याह क्यों,– मैं किस लायक हूं?"

मैंने उसे बहुत समझाया, कहा, "तू डर मत, बिन्दु, सुना है, तेरा दूल्हा अच्छा है।" बिन्दुने कहा, "दूल्हा अगर अच्छा है, तो, मेरे पास है क्या जो मुझे कोई पसन्द करेगा!" आश्चर्य है, वरपक्ष-वालोंने लड़की देखनेका नाम तक नहीं लिया। और जिठानीजीको इससे बड़ा सन्तोष हुआ।

किन्तु, बिन्दुका रोना रात और दिन जारी ही रहा। उसे कितना जबरदस्त दुःख था, सो मैं जानती हूं। बिन्दुके लिए मैंने घरमें बहुत लड़ाई की है,– किन्तु, उसका ब्याह रोक दिया जाय, इतना कहनेका मुझे साहस नहीं हुआ। और कहती भी, तो किस बिरतेपर? मेरे मरनेके बाद उसकी क्या दशा होती?

एक तो 'लड़की', उसपर रंगकी काली और देखनेमें भद्दी,– किसके घर चली, उसकी क्या दशा होगी, इसकी चिन्ता न करना ही अच्छा। सोचनेसे भी प्राण काँप उठते हैं। बिन्दुने कहा, "जीजी, ब्याहको अब भी पाँच दिन बाकी हैं, इस बीचमें मेरी मौत नहीं हो सकती?" मैंने उसे जोरसे डाँट दिया, किन्तु अन्तर्यामी ही जानते हैं, अगर स्वाभाविक तौरसे उसकी मृत्यु हो जाती तो मुझे आराम मिलता।

विवाहके एक दिन पहले बिन्दुने अपनी बहनसे जाकर कहा, "जीजी, मैं तुम्हारे ग्वालघरमें पड़ी रहूंगी, तुम जो कहोगी सो करूँगी, मैं तुम्हारे पाँवों पड़ती हूं, जीजी, मुझे इस तरह मत फेंको।"

कुछ दिनोंसे जिठानीजी छिपे-छिपे आँसू बहा रही थीं। उस दिन भी बहाये। मगर सिर्फ हृदय ही तो सब-कुछ नहीं, शास्त्र भी तो हैं! उन्होंने कहा, "तू तो जानती है, बिन्दी, पति ही स्त्रीके सब-कुछ हैं। गति भी वही हैं, मुक्ति भी वही हैं। भाग्यमें अगर दुःख ही बदा हो, तो उसे कौन मिटा सकता है!" असल बात यह थी कि 'किसी भी तरफ कोई भी रास्ता नहीं, बिन्दुको ब्याह करना ही होगा, उसके बाद जो होनहार है सो हुआ करे।'

मैंने चाहा था कि 'ब्याह अपने ही घरसे हो।' परन्तु तुमलोगोंने कहा, "नहीं, दूल्हेके घरपर ही होगा। उनलोगोंकी यह कुल-परम्पराकी प्रथा है।"

मैं समझ गई कि बिन्दुके ब्याहमें अगर तुम्हारा कुछ खर्च हो जाय तो वह तुम्हारे कुलदेवताके लिए असह्य होगा। इसलिए मुझे चुप रह जाना पड़ा। किन्तु, एक बात तुममेंसे किसीको भी नहीं मालूम। जिठानीजीको जतानेकी इच्छा थी, पर मैंने नहीं जानाई; क्योंकि वे डरके मारे ही अधमरी हो जातीं। मैंने तुमसबसे छिपाकर अपने कुछ गहने बिन्दुको पहना दिये थे। शायद जिठानीजीको आभास मिल गया था। किन्तु, वे देखी अनदेखी करके रह गईं। दुहाई है धर्मकी, इसके लिए तुमलोग उन्हें क्षमा कर देना।

विदा होनेके पहले बिन्दु मुझसे लिपट गई, बोली, "जीजी, आखिर मुझे त्याग ही दिया?" मैंने कहा, "नहीं, बिन्दी,– तेरी कैसी भी दशा क्यों न हो, मैं आखिर तक तुझे नहीं छोड़ूँगी।"

तीन दिन बीत गये। तुम्हारी रिआयाने तुम्हें एक भेड़ भेंट की थी। मैंने उसे तुम्हारी जठराग्निसे बचाकर कोयलेकी कोठरीके एक कोनेमें शरण दी थी। रोज सुबह उठते ही मैं खुद जाकर उसे दाना खिला आया करती थी। तुम्हारे नौकरोंपर दो-एक दिन भरोसा करके देखा था। किन्तु देखा कि उनमें उसे खिलानेकी बजाय उसको खा जानेका लोभ ही प्रबल है।

उस दिन सुबह उस कोठरीमें जाकर देखा कि उसमें बिन्दु गठरी-सी बनी

बैठी है। मुझे देखते ही वह मेरे पैरोंसे लिपटकर सिसक-सिसककर रोने लगी। बिन्दुका पति पागल है! मैंने पूछा, "तू सच कह रही है, बिन्दु?"

उसने कहा, "इतना बड़ा झूठ क्या मैं तुमसे कह सकती हूं, जीजी? सच्ची, जीजी, वे पागल हैं। ससुरकी राय नहीं थी कि यह ब्याह हो। लेकिन साससे वे जमराजकी तरह डरते हैं। वे ब्याहके पहले ही काशी चले गये। सासने अपनी जिदसे लड़केका ब्याह कर दिया।"

मैं वहाँ-की-वहीं कोयलोंके ढेरपर बैठ गई। स्त्रियाँ स्त्रियोंपर दया नहीं करतीं! कहती हैं, 'लड़कीका क्या है, है तो आखिर लड़की ही! लड़का पागल हो तो क्या है, आखिर है तो मर्द ही!"

बिन्दुके पतिको सहसा पागल समझना मुश्किल था। किसी-किसी दिन ऐसा हो जाता था कि उसे साँकलोंसे बाँधकर कोठरीमें बन्द कर देना पड़ता था। ब्याहकी रातको वह अच्छा था। लेकिन, रात्रि-जागरण आदि उपद्रवोंसे दूसरे ही दिनसे उसकी हालत खराब हो गई। बिन्दु दोपहरको पीतलकी थालीमें रोटी खाने बैठी ही थी कि अचानक पतिदेव आये और चटसे उसकी थाली उठाकर दूर फेंक दी। सहसा उसे कैसा तो खयाल आया कि बिन्दु स्वयं रानी रासमणि है, नौकरने सोनेका थाल चुराकर रानीको अपनी पीतलकी थालीमें खाना परोस दिया है! यही उसके गुस्सेका कारण था। बिन्दु तो मारे डरके अधमरी हो गई। तीसरी रातको सासने जब बिन्दुको पतिके कमरेमें सोनेके लिए कहा, तो उसके प्राण सूख गये। सास उसकी प्रचण्ड है, गुस्सा आनेपर उसे होश नहीं रहता। असलमें, वह भी पागल है, पर पूरी नहीं। और इसीलिए और-भी ज्यादा खतरनाक है। आखिर बिन्दुको कमरेमें जाना पड़ा। पतिका मिजाज उस रातको ठंडा था। किन्तु, मारे डरके बिन्दुके होश गायब थे। पतिके सो जानेके बाद, बहुत रात बीते, वह किसी कदर घरसे निकल भागी। उसका विस्तृत वर्णन देनेकी जरूरत नहीं।

घृणा और गुस्सेसे मेरी सारी देहमें आग लग गई। मैंने कहा, "ऐसे धोखेका 'ब्याह' ब्याह ही नहीं। बिन्दु, तू जैसे थी वैसे ही बनी रह मेरे पास। देखूँ तुझे कौन ले जाता है मेरे पाससे!"

तुमलोगोंने कहा, "बिन्दु झूठ बोलती है।" मैंने कहा, "वह हरगिज झूठ नहीं बोल सकती।" तुमलोगोंने कहा, "तुमने कैसे जाना?" मैंने कहा, "मैं निश्चित जानती हूं।" तुमलोगोंने मुझे डराया और कहा, "बिन्दुकी सास पुलिस-केस करेगी तो हमें बड़ी परेशानी उठानी पड़ेगी।" मैंने कहा, "धोखेसे पागलसे उसका ब्याह किया गया है — यह बात क्या अदालत नहीं सुनेगी?" तुमलोगोंने कहा, "तो क्या इस मामलेको लेकर तुम अदालत तक पहुंचोगी? इसमें हमारा क्या लेन-देन?" मैंने कहा, "मैं अपने गहने बेचकर जो-कुछ कर सकूंगी, करूंगी।" तुमलोगोंने कहा, "बस अब अदालत और बाकी है, सो भी कर लेना!"

इसका कोई जवाब नहीं था। तकदीरपर हाथ ठोंककर रह गई। इससे ज्यादा और कर ही क्या सकती थी मैं?

उधर बिन्दुके जेठने आकर बाहर शोर मचाना शुरू कर दिया। धमकी दी, थानेमें खबर देगा।

मेरे अन्दर क्या जोर है, मालूम नहीं; किन्तु, कसाईके हाथसे जो गाय भागकर मेरी शरणमें आई है उसे फिर कसाईके हाथ सौंप देना पड़ेगा — यह बात मेरा मन हरगिज न मान सका। मैंने चुनौती देकर कहा, "देता है तो देने दो थानेमें खबर, मुझे उसकी परवाह नहीं।" इतना कहनेके बाद मैंने सोचा कि बिन्दुको मैं अपने कमरेमें ले जाकर भीतरसे हुड़का देकर बैठ रहूँ। किन्तु, देखा तो, बिन्दु लापता है! तुम्हारे साथ वाद-विवाद होते देख उसने कब बाहर जाकर जेठके आगे आत्म-समर्पण कर दिया, किसीको पता ही नहीं। वह समझ गई कि उसके इस घरमें रहनेसे मुझपर सङ्कट आये बिना न रहेगा।

उसने भागकर मेरी शरण क्या ली, अपनी जानके लिए पहलेसे दूनी आफत मोल ले ली। चूल्हेसे निकलनेकी कोशिश की, तो भाड़में आ पड़ी। उसकी सासका कहना था कि 'मेरा लड़का उसे खा थोड़े ही डालता। और-और बुरे पतिओंके देखे मेरा लड़का तो सोनेका टुकड़ा है।' इत्यादि।

जिठानीजीने कहा, "उसकी फूटी तकदीर ही ऐसी है, उसपर दुःख करनेसे फायदा? पति चाहे पागल हो, चाहे सनकी, — है तो पति ही।"

तुमलोगोंके मनमें उस सती-साध्वीका चरित्र जाग्रत होने लगा जिसने स्वयं अपने कोढ़ी पतिको गोदमें उठाकर वेश्याके घर पहुँचाया था। संसारकी इस अधमतम कायरताकी कहानीका प्रचार करते आनेमें तुम पुरुषोंके मनमें आज तक कभी भी जरा लज्जाका सञ्चार नहीं हुआ, इसीलिए मानव-जन्म लेकर भी तुमलोग बिन्दुके व्यवहारपर गुस्सा कर सके हो,— उससे तुमलोगोंका सिर नीचा नहीं हुआ। बिन्दुके लिए मेरी छाती फटने लगी, किन्तु तुमलोगोंके लिए लज्जाकी सीमा न रही। एक तो मैं देहातकी लड़की, उसपर तुम्हारे घरमें आ पड़ी। भगवानने क्या समझकर मुझे इतनी बुद्धि दी सो वही जाने। तुम्हारे यहाँकी ऐसी-एसी धर्मकी बातें मुझसे सही नहीं गईं।

मैं निश्चित जानती थी कि मर जानेपर भी बिन्दु अब हमारे घर न आयगी, किन्तु मैंने जो उसे ब्याहके पहले वचन दिया था, आशा दी थी कि अन्त तक मैं उसे नहीं त्यागूँगी!

मेरा छोटा भाई शरत कलकत्तामें कालेजमें पढ़ता था। तुम्हें तो मालूम है, दुनिया-भरकी 'स्वयंसेवकी' करना ही उसका पेशा था। 'प्लेगके मुहल्लेमें जाकर चूहे मारना, दामोदरकी बाढ़में जाकर लोकोद्धार करना और कालेजकी परीक्षामें बार-बार फेल होना' उसकी जन्मपत्रीमें लिखा था। मैंने उसे बुलाकर कहा, "जैसे भी हो, तुझे बिन्दुकी खबर मुझे बराबर देनी होगी।"

इस कामके बजाय अगर उससे यह कहती कि 'बिन्दुकी ससुरालमें डाका मारकर उसे उठा ला', या 'उसके पागल पतिका सिर फोड़ आ', तो वह काम उसके लिए सहज होता और उसे खुशी भी होती। किन्तु, खबर लेकर बार-बार तुम्हारे घर आना-जाना उसके लिए मुश्किल था।

हम दोनों बात कर ही रहे थे कि इतनेमें तुम आ गये, बोले, "अब और क्या नया उपद्रव शुरू करना चाहती हो?" मैंने कहा, "वही, जो शुरूमें किया था। उपद्रव तो तभीसे चालू है जबसे मैं तुम्हारे घर आई हूँ। पर, वह करतूत तो तुम्हींलोगोंकी है!" तुमने पूछा, "बिन्दुको लाकर फिर कहीं छिपा रक्खा है क्या?" मैंने कहा, "बिन्दु अगर आती तो मैं उसे जरूर लाकर छिपा रखती। पर वह आयेगी नहीं, तुम बेफिकर रहो।"

शरतको मेरे पास देखकर तुम्हारा सन्देह और भी बढ़ गया। मैं जानती थी, तुम यह नहीं चाहते कि शरत तुम्हारे घर आया-जाया करे। तुमलोगोंको डर था कि उसपर पुलिसकी दृष्टि है, किसी दिन राजनीतिक मामलेमें न फँसना पड़े। इसीलिए भइयादूजका टीका तक मुझे दूसरोंके हाथ भेजना पड़ता था, मैं उसे तुम्हारे घर नहीं बुलाती थी।

एक दिन तुम्हारे ही मुँहसे सुना कि 'बिन्दु फिर कहीं भाग गई है, और उसका जेठ तुम्हारे घर उसे तलाश करने आया है।' सुनकर मेरी छातीमें शूल-सा समा गया। अभागीको कितना असह्य कष्ट है सो समझ गई, किन्तु कुछ कर न सकी।

शरत खबर लेने दौड़ा गया। शामको आकर खबर दी कि 'बिन्दु भाग कर अपने चचरे भाइयोंके घर गई थी, पर, उनलोगोंने बुरा-भला कहकर और शायद ठोंक-पीटकर जबरदस्ती फिर उसे ससुराल पहुँचा दिया। इसमें जो उनका किराया वगैरह खर्च हुआ, उसका असन्तोष अभी तक उन्हें पीड़ा दे रहा है।'

तुम्हारी चाची श्रीक्षेत्र जाते समय हमारे घर आकर ठहरीं, तो मैंने तुमसे कहा, "मैं भी जाऊँगी।"

सहसा मेरी ऐसी 'धर्म-रुचि'को देखकर तुमलोग इतने खुश हो उठे कि तुरत जानेकी आज्ञा दे दी। हालाँ कि यह बात भी उसमें शामिल थी कि इस समय मैं अगर कलकत्ता रही तो बिन्दुके बारेमें जरूर कोई-न-कोई नया उपद्रव शुरू कर दूंगी। तुम्हारे घरमें मेरी उपस्थिति ऐसी ही खतरनाक हो उठी थी!

रविवारको सब तय हो गया, बुधवारको रातकी गाड़ीसे चाचीके साथ मैं भी पुरी जाऊँगी। मैंने शरतको बुलाकर कहा, "जैसे भी हो, बिन्दुको लेकर तुम्हें मेरे साथ पुरी जाना पड़ेगा।" शरतका चेहरा खिल उठा, उसने कहा, "नेकी और पूछ-पूछ! फोकटमें मैं भी तुम्हारे जगन्नाथके दर्शन कर आऊंगा।"

उसी दिन शामको शरत मेरे सामने ऐसे आ खड़ा हुआ कि उसका चेहरा देखकर मेरी छाती बैठ गई। मैंने डरते-डरते कहा, "क्या बात है, शरत? कुछ तजवीज नहीं बैठी क्या?" उसने कहा, "नहीं।"

मैंने कहा, "क्यों, राजी नहीं हुई ?" उसने कहा, "अब उसकी जरूरत नहीं। कल रातको उसने अपने कपड़ोंमें आग लगाकर आत्महत्या कर ली। उस घरके जिस लड़केसे मैंने मित्रता की थी उससे पता चला कि बिन्दु तुम्हारे नाम एक चिट्ठी लिखकर रख गई थी। पर, उनलोगोंने चिट्ठी जलाकर नष्ट कर दी।"

जाने दो, शान्ति हुई।

किन्तु समाजके बुजुर्ग बहुत नाराज हुए, कहने लगे, "औरतोंका जलकर मरना आजकल एक फैशन-सा हो गया है।" तुमलोगोंने कहा, "खूब नाटक दिखाया!" हो सकता है। किन्तु नाटकका खेल केवल स्त्रियोंकी साड़ियोंपर ही क्यों होता है, वीर पुरुषोंकी धोतियोंपर क्यों नहीं होता,—इस बातपर भी थोड़ा विचार करना चाहिए।

बिन्दुका जला भाग्य ही ऐसा है। जब तक जिन्दा रही, रूप-गुण किसी बातमें भी उसे यश नहीं मिला ; और मरी तो जरा सोच-समझकर भी नहीं मरी कि किस ढंगसे मरनेसे देशके पुरुष तालियां बजाकर उसकी तारीफ करते! मरकर भी लोगोंको नाखुश कर गई। जिठानीजी अपने कमरेमें छिपकर रो लीं। पर, उस रोनेमें एक सान्त्वना थी : 'कुछ भी क्यों न हुआ हो, फिर भी रक्षा हुई, मरी ही तो है, और-तो कुछ नहीं हुआ ; जीती रहती, तो न-जाने क्या न होता!'

मैं तीर्थमें आई हूं। बिन्दुके आनेकी जरूरत नहीं रही। किन्तु मुझे इसकी जरूरत थी।

संसारमें जिसे लोग 'दुःख' कहते हैं, मेरी घर-गृहस्थीमें उसका कोई अस्तित्व नहीं था। तुम्हारे घरमें खाने-पहननेकी कोई कमी नहीं थी। और तुम्हारे भाई साहबका चरित्र चाहे जैसा भी हो, तुम्हारे चरित्रमें ऐसा कोई दोष नहीं जिसके लिए विधाताको दोष दिया जा सके। और तुम्हारा स्वभाव भी अगर भाईके समान ही होता, तो भी कुल-जमा इसी तरह मेरे दिन कट जाते, और अपनी सती-साध्वी जिठानीकी तरह मैं भी पतिदेवताको दोष न देकर विश्वदेवताको

ही दोष देनेकी कोशिश करती। इसलिए तुमलोगोंके विरुद्ध में किसी तरहकी शिकायत पेश करना नहीं चाहती। — मैंने यह चिट्ठी इस उद्देश्यसे नहीं लिखी।

मेरा अभिप्राय यह है कि मैं अब तुम्हारे उस सत्ताईस-नम्बर माखन बड़ाल लेनमें नहीं आऊँगी। मैंने बिन्दुको देखा है। संसारमें स्त्रियोंका परिचय क्या है और कितना है, इस बातको मैं समझ गई हूं। अब मुझे जरूरत नहीं।

एक बात और देखी। बिन्दु लड़की जरूर थी, किन्तु भगवानने उसे नहीं त्यागा। उसपर तुमलोगोंका चाहे कितना भी जोर क्यों न हो, उस जोरका अन्त जरूर था। वह अपने अभागे मानव-जन्मसे कहीं बड़ी निकली। तुम्हीं लोग अपनी इच्छानुसार अपने दस्तूर-माफिक उसके जीवनको चिरकाल तक पैरों तले दबाये रहोगे, तुम्हारे पाँव इतने लम्बे नहीं हैं। मृत्यु तुमलोगोंसे बड़ी है। उस मृत्युमें महान् है वह,— वहाँ बिन्दु केवल एक भारतकी 'अबला' नहीं, मात्र एक अपरिचित पागल पतिकी 'प्रवञ्चिता स्त्री' नहीं, वहाँ वह 'अनन्त' है।

मृत्युकी वह बाँसुरी जिस दिन उस बालिकाके टूटे-हुए हृदयके भीतरसे मेरे जीवनके जमुना-पारमें बज उठी, तो, उस दिन उसने पहले-पहल मेरी छातीमें मानो तीर-सा चुभो दिया। मैंने विधातासे पूछा, "तुम्हारे जगतमें जो सबसे ज्यादा तुच्छ है वही सबसे बढ़कर कठिन क्यों है? इस गलीके बीचका, चारों तरफसे चहारदीवारीसे घिरा-हुआ निरानन्दका, यह अति-तुच्छ 'बुद्बुद' इतनी 'भयङ्कर वाधा' क्यों बन गया? तुम्हारा विश्वजगत् अपनी छै ऋतुओंका सुधापात्र लिये-हुए चाहे कैसे भी क्यों न पुकारता रहे, एक क्षणके लिए भी क्यों मैं इस अन्तःपुरकी चौखट पार नहीं हो सकती? तुम्हारे ऐसे विशाल विश्वमें क्यों मुझे अपना ऐसा जीवन लेकर अति तुच्छ ईंट-पत्थरकी चारदीवारीमें घिरकर तिल-तिल करके मरना होगा? कितनी तुच्छ है मेरी यह प्रतिदिनकी जीवन-यात्रा! कितने तुच्छ हैं यहाँके ये बँधे-हुए नियम, बँधे-हुए अभ्यास, बँधे-हुए बोल, यह सारी-की-सारी बँधी-हुई मार! किन्तु हाय, अन्त तक उस दीनताके नागपाश-बन्धनकी ही होगी जीत? और हार होगी तुम्हारे स्वरचित उस आनन्द-लोककी?"

किन्तु मृत्युकी वंशी बजने लगी,– कहाँ रही वह राजमिस्तरीकी गढ़ी-हुई दीवार, कहाँ रहा तुमलोगोंका अपने-गढ़े कानूनोंसे-बना काँटोंका बेड़ा ! किस बिरतेपर वह इतने अपमानसे आदमीको बन्दी बनाकर रख सकता है ! देख लो, आज मृत्युके हाथमें जीवनकी जय-पताका कैसी उड़ रही है ! अरी ओ 'मझली-बहू', अब तुझे डर किस बातका ? तेरी 'मझली-बहू'की केंचुली अलग होनेमें अब एक क्षण भी नहीं लगनेका ।

तुमलोगोंकी उस गलीमें अब मैं नहीं आऊंगी । मेरे सामने आज नीला समुद्र है, और सिरके ऊपर है आषाढ़का मेघ-पुञ्ज ।

तुमलोगोंने अपने अभ्यासके अन्धकारसे मुझे ढक रखा था । क्षण-भरके लिए बिन्दु आई ; और उस आवरणके छिद्रमेंसे उसने मुझे देख लिया । उस लड़कीने अपनी मृत्युसे मेरे आवरणको फाड़कर अलग कर दिया । आज बाहर आकर मैंने देखा कि ऐसी जगह ही नहीं जहाँ मेरा गौरव अमा सके । मेरा यह अनादृत रूप जिसकी आँखोंको अच्छा लगा वही 'सुन्दर' आज मुझे सम्पूर्ण आकाशसे देख रहा है । अब तो मर गई तुम्हारी वह 'मझली-बहू' ।

तुम सोचते होगे कि मैं मरने जा रही हूँ,– डरो मत, ऐसा पुराना मजाक तुम्हारे साथ मैं नहीं करूंगी । मीराबाई भी तो मुझ-जैसी ही स्त्री थी,–उसकी जंजीर भी तो कम भारी नहीं थी,–उसे जीनेके लिए मरना नहीं पड़ा । मीरा बाईने अपने गीतमें कहा है—

"भाई छोड्या, बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई ।
'मीरा' राम लगण लागी, होणी होय सो होई ।"

यह 'लगनका लगा रहना' ही तो जीवित रहना है । मैं भी जीऊंगी । अब मैं जी गई ।

तुम्हारे चरणतलाश्रयसे विच्छिन्न—
मृणाल

बंगला - रचना : श्रावण १९७१
हिन्दी-अनुवाद : आश्विन २००६

मुकुट

१

त्रिपुराके राजा अमरमाणिक्यके कनिष्ठ पुत्र राजधरने सेनापति ईसा खाँसे कहा, "देखो, सेनापति, मैं तुमसे बार-बार कह चुका हूँ कि तुम मेरा अपमान न किया करो !"

पठान ईसा खाँ कुछ तीर लिये-हुए उनकी धार आजमा रहे थे। राजधरकी बात सुनकर वे कुछ बोले नहीं, सिर्फ मुँह उठाकर भौंहें चढ़ाकर राजकुमारके चेहरेकी तरफ एक बार देख-भर लिया ; और दूसरे ही क्षण सिर झुकाकर अपने कामकी धुनमें लग गये। राजधरने कहा, "भविष्यमें अगर तुमने मुझे नाम लेकर पुकारा, तो मुझे उसकी उचित व्यवस्था करनी पड़ेगी।"

वृद्ध ईसा खाँ सहसा सिर उठाकर मेघ-गर्जनके स्वरमें बोल उठे, "अच्छा !"

राजधरने अपनी तलवारकी मियानको खट-से संगमरमरके फर्शपर ठोंककर जवाब दिया, "हाँ।"

ईसा खाँसे बालकका इस तरह छाती फुलाना और तलवारका ठोंकना देख कर रहा नहीं गया, वे जोरसे ठहाका मारकर हँस पड़े। राजधरका सम्पूर्ण चेहरा, और-तो-और, आँखोंकी सफेद कौड़ी तक सुर्ख हो उठीं। ईसा खाँने मजाककी हँसी हँसते-हुए हाथ जोड़कर कहा, "महामान्य महाराजाधिराजको क्या कहकर पुकारना होगा ? हुजूर, जनाब, जहाँपनाह, शाहनशाह—"

राजधरने अपने स्वाभाविक कर्कश कंठस्वरको दूना कर्कश करके कहा, "मैं तुम्हारा शागिर्द जरूर हूं, पर, याद रखो, मैं राजकुमार हूं ! हमेशा तुम्हें इस बातका खयाल रखना चाहिए।"

ईसा खाँ फिर कड़क उठे, "बस, चुप ! ज्यादा बकवास न करो। मुझे और-भी बहुत काम हैं।" और, फिर वे अपने काममें मशगूल हो गये।

इतनेमें द्वितीय राजपुत्र इन्द्रकुमार भी वहाँ आ पहुंचे। लम्बा-चौड़ा बलिष्ठ सुडौल शरीर है और ओठोंपर मुस्कान। सिर हिलाते-हुए बोले, "खाँ-साहब, आज क्या बात है ?"

इन्द्रकुमारकी आवाज सुनकर बूढ़े सेनापतिने तीरोंको एक तरफ रख दिया और बड़े स्नेहके साथ उन्हें छातीसे लगाते-हुए कहा, "सुनो, बेटा, सुनो, बड़े मजेकी बात है। तुम्हारे इन छोटे-भाई 'चक्रवर्ती महाराज' को 'जहाँपनाह' 'जनाब' नहीं कहा जाय तो इनकी बेइज्जती होती है !" कहकर वे फिर तीर उठाकर उनकी धार आजमाने लगे।

"यह बात है !" – कहकर इन्द्रकुमार खूब जोरसे हँस पड़े।

राजधर अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले, "चुप रहो, भाई साहब !"

इन्द्रकुमारने कहा, "राजधर, अब तुम्हें क्या कहना पड़ेगा, जहाँपनाह ? हाःहाः हाःहाः !"

राजधर काँपने लगे, बोले, "भाई साहब, चुप रहो, मैं कहता हूं।"

इन्द्रकुमार फिर हँस दिये, बोले, "जनाब !"

राजधर अधीर हो उठे, बोले, "भाई साहब, तुम्हें जरा भी तमीज नहीं।"

इन्द्रकुमार फिर हँस दिये ; और राजधरकी पीठपर हाथ फेरते-हुए बोले, "जरा ठंडे होओ भाई, ठंडे होओ। अपनी तमीज तुम अपने ही पास रखो। मैं उसे छीनना नहीं चाहता।"

ईसा खाँने अपना काम जारी रखते हुए कनखियोंसे राजधरकी तरफ देखा और हँसते-हुए कहा, "फिलहाल इनकी तमीज बहुत ज्यादा बढ़ गई है।"

इन्द्रकुमारने कहा, "हमलोगोंकी पहुँचके बाहर।"

राजधर मारे गुस्सेके बड़बड़ाते-हुए चले गये। चालकी धमकसे मियानकी तलवार तक झनझना उठी।

२

राजकुमार राजधरकी उमर है उन्नीस सालकी। गहरा गेहुँआ रंग है, नाटा बदन और शरीर गठा-हुआ मजबूत। उस जमानेमें राजपुत्रोंके जैसे बड़े-बड़े बाल होते थे, इनके वैसे नहीं हैं। इनके बाल बहुत छोटे, मोटे और सीधे खड़े-हुए हैं। छोटी-छोटी आँखें हैं और उनकी दृष्टि है तीक्ष्ण। दाँत

कुछ बड़े हैं। गलेकी आवाज बचपनसे ही कर्कश और मोटी है। लोगोंका खयाल है कि दिमाग उनका बहुत तेज है, और स्वयं उनकी भी यही धारणा है। इस बुद्धिके जोरसे ही वे अपने दोनों बड़े भाइयोंको अपनेसे हेय समझते आये हैं। राजधरके प्रबल प्रतापसे राज-प्रासादके सभी संत्रस्त रहते। जरूरत हो या न हो, तलवारको जमीनपर ठोंकते-हुए वे सर्वत्र अपना प्रभुत्व जताते ही रहते। महलके नौकर-चाकर हरदम उन्हें 'राजा' 'महाराजा' कहकर, हाथ जोड़कर और सलामी बजाकर हर तरहसे खुश रखनेकी भरसक कोशिश करते रहते, मगर फिर भी उन्हें चैन नहीं। सभी चीजमें उनका हाथ रहता और सभी बातोंमें वे अपना दखल रखना चाहते। इस विषयमें आँखोंका लिहाज तक वे खो चुके हैं। एक बार युवराज चन्द्रनारायणके एक घोड़ेपर उन्होंने दखल जमा लिया, किन्तु युवराज सिर्फ ज़रा हँसकर रह गये, कुछ बोले नहीं। और एक दिनकी बात है, कुमार इन्द्रकुमारके चाँदीसे-मढ़े तीर-धनुषपर दखल जमा लिया, तो, इन्द्रकुमार बहुत नाराज हुए; और बोले, "देखो, जो चीज तुम ले चुके हो उसे मैं वापस नहीं लेना चाहता; किन्तु याद रखना, अबकी अगर मेरी चीजसे हाथ लगाया, तो मैं ऐसा कर दूंगा कि फिर उस हाथसे कोई चीज ही नहीं उठा सकोगे।" किन्तु राजधर बड़े भाइयोंकी बातकी कुछ परवाह ही नहीं करते। लोग उनका आचरण देखकर लुके-छुपे कहा करते, "छोटे राजकुमार राजाके घर पैदा जरूर हुए हैं, पर, राजकुमारोंकी-सी उनमें कोई बात देखनेमें नहीं आती।"

किन्तु महाराजा अमरमाणिक्य राजधरको जरा-कुछ ज्यादा प्यार करते हैं; और राजधरको यह बात मालूम है। आज पिताके पास जाकर उन्होंने ईसा खाँके खिलाफ शिकायत की।

राजाने ईसा खाँको बुला भेजा; और कहा, "सेनापति, राजकुमार अब बड़े हो गये हैं। अब उनका यथोचित सम्मान करना चाहिए।"

ईसा खाँ बोले, "महाराज बचपनमें जब मुझसे युद्ध सीखा करते थे तब महाराजकी जितनी इज्जत करता था, राजकुमारोंकी मैं उससे कम इज्जत नहीं करता।"

राजधरने कहा, "मेरा कहना है, तुम मुझे नाम लेकर न पुकारा करो।"

ईसा खाँ बड़ी तेजीसे राजधरकी ओर मुड़कर बोले, "चुप रहो, बच्चे, मैं तुम्हारे पितासे बात कर रहा हूं। महाराज, माफ कीजियेगा, आपका यह छोटा बेटा राजघरानेके काबिल नहीं बन सका। इसके हाथमें तलवार शोभा नहीं देती। अलबत्ता, बड़ा होनेपर यह मुंशियों-जैसी कलम जरूर चला सकेगा, और-किसी काम न आयेगा।"

इतनेमें चन्द्रनारायण और इन्द्रकुमार भी वहाँ आ पहुँचे।

वृद्ध ईसा खाँ उनकी तरफ मुड़कर बोले, "इधर देखिये, महाराज, ये हैं राजकुमार!"

राजाने राजधरकी तरफ देखते-हुए कहा, "राजधर, खाँ साहब क्या कह रहे हैं! तुम शायद अस्त्र-विद्यामें इन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सके हो?"

राजधरने कहा, "महाराज, हम सबकी आप धनुर्विद्यामें परीक्षा लीजिये! परीक्षामें यदि मैं सर्वश्रेष्ठ न साबित हुआ, तो मुझे आप त्याग दीजियेगा।"

राजाने कहा, "अच्छी बात है, अगले सप्ताहमें परीक्षा ली जायगी। तुममेंसे जो परीक्षोत्तीर्ण होगा, उसे मैं हीरोंसे-जड़ी तलवार पुरस्कारमें दूँगा।"

३

इन्द्रकुमार धनुर्विद्यामें असाधारण थे। सुनते हैं, एक बार उनके अनुचरने महलकी छतसे एक मोहर नीचे फेंक दी थी,—कुमारने उस मोहरको जमीनपर पड़नेके पहले ही तीर मारकर सौ हाथ दूर फेंक दिया था। राजधर आवेशमें पिताके सामने दम्भ तो कर आये, किन्तु उनके मनमें बड़ी-भारी खलबली मच गई। युवराज चन्द्रनारायणके बारेमें उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी,—तीर चलाना उन्हें अच्छा नहीं आता, किन्तु इन्द्रकुमारसे जीतना बड़ा मुश्किल है। राजधरने बहुत सोच-विचारकर एक तरकीब निकाली। और मन-ही-मन हँसकर बोले, 'मुझे तीर चलाना आये चाहे न आये, मेरी बुद्धि ही तीर-सी पैनी है, मैं उसीसे सबलूँ लक्ष्य-भेद कर गा।'

कल परीक्षाका दिन है। ईसा खाँ, युवराज और इन्द्रकुमार वगैरह उस जमीनकी जाँच करने गये थे जहाँ कल परीक्षा होगी। राजधर भी वहाँ पहुँच गये और बोले, "भाई साहब, आज पूनम है, आज गोमतीमें शेर पानी पीने आयेंगे,—आज नदी-किनारे शिकार करने चलें तो कैसा रहे?"

इन्द्रकुमारको बड़ा आश्चर्य हुआ; बोले, "बड़े ताज्जुबकी बात है। आज राजधरको शिकारकी कैसे सूझी! ऐसा तो कभी नहीं हुआ!"

ईसा खाँने राजधरके प्रति घृणाका कटाक्ष करते-हुए कहा, "राजकुमार राजधर, और शिकारी नहीं! ये जाल बिछाकर घर ही में शिकार किया करते हैं। इनका शिकार बड़ा जबरदस्त है। दरबारमें ऐसा कोई जीव नहीं जो इनके जालमें न फँसा हो।"

चन्द्रनारायणने देखा कि बात राजधरके चुभ गई और इससे उनका मन भी व्यथित हो उठा, वे बोले, "सेनापति साहब, जैसी तुम्हारी तलवार वैसी ही तुम्हारी बात, दोनों ही तेज धारदार, जिसपर जाकर पड़ती है उसके टुकड़े करके ही छोड़ती है।"

राजधरने हँसते-हुए कहा, "नहीं, भाई साहब, मेरे लिए ज्यादा फिकरकी बात नहीं। खाँ साहब बात तो काफी पैनी करते हैं, पर, मेरे कानोंमें वह रुईकी फुरफुरी-सी लगती है।"

ईसा खाँ अचानक क्रुद्ध होकर मूँछोंपर ताव देते-हुए बोले, "तुम्हारे कान हैं क्या? होते अगर, तो अब तक मैं तुम्हें सीधा कर देता।" वृद्ध ईसा खाँ किसीकी भी खातिर नहीं रखते।

इन्द्रकुमार ठहाका मारकर हँस पड़े। चन्द्रनारायण गम्भीर बने रहे, कुछ बोले नहीं। युवराजको नाखुश होते देख इन्द्रकुमार उसी वक्त हँसी रोककर उनके पास पहुँचे; और मिठासके साथ बोले, "भाई साहब, आपकी क्या राय है? आज रातको शिकारको चला जाय?"

चन्द्रनारायणने कहा, "भाई, तुम्हारे साथ शिकारको जाना तो फजूल है। बिलकुल निरामिष शिकार होता है हमारा तो। तुम जंगलमें जाकर जानवर मारके लाते हो, और हमलोग लाते हैं सिर्फ कुँहड़ा-लौकी-कटहर।"

ईसा खाँ बहुत खुश होकर हँसने लगे, और स्नेहके साथ इन्द्रकुमारकी पीठ ठोंकते-हुए बोले, "युवराजने बात तो बिलकुल सही कही है, बेटा! तुम्हारा तीर सबसे आगे दौड़ता है और ठीक निशानेपर बिंध जाता है। तुमसे भला कौन जीत सकता है!"

इन्द्रकुमारने कहा, "नहीं, नहीं, भाई साहब, मजाक नहीं, जाना पड़ेगा। तुम शिकारको नहीं जाओगे तो कौन जायगा!"

युवराजने कहा, "अच्छा, चलूँगा। आज राजधरको शिकारका शौक हुआ है, हम इन्हें निराश नहीं कर सकते।"

हँसते-हुए इन्द्रकुमारका चेहरा उसी क्षण उदास हो गया। बोले, "क्यों, भाई साहब, मेरी तबीयत होनी तो नहीं जाते?"

चन्द्रनारायणने कहा, "यह तुम कैसी बात करते हो, भाई, तुम्हारे साथ तो रोज ही शिकार करने जाता हूँ—"

इन्द्रकुमारने कहा, "इसीसे वह पुराना पड़ गया है!"

चन्द्रनारायण कुछ उदास हो गये, बोले, "तुम मेरी बातको इस तरह गलत समझने लगते हो तो मुझे बड़ी चोट पहुँचती है।"

इन्द्रकुमार हँसकर जल्दीसे बोल उठे, "नहीं, भाई साहब, मैं हँसी कर रहा था। मैं शिकारको जरूर चलूंगा। चलो, तैयारियाँ करें चलकर।"

ईसा खाँ मन-ही-मन बोले, 'इन्द्रकुमार अपनी छातीपर बीसों तीर झेल सकता है, पर बड़े भाईका अनादर उससे जरा भी नहीं झेला जाता।'

४

शिकारका जब सब इन्तजाम हो चुका तो राजधर धीरे-धीरे इन्द्रकुमारकी स्त्रीके महलमें पहुँचे। कमलादेवीने हँसते-हुए कहा, "आज यह क्या, कुँवर साहब! एकदम तीर-धनुषसे लैस होकर! क्या बात है, मुझे मारोगे क्या?"

राजधरने कहा, "भाभी-रानी, आज हम तीनों भाई शिकारको जा रहे हैं, इसीसे—"

कमलादेवी आश्चर्यचकित होकर बोलीं, "तीनों भाई ! तो तुम भी जाओगे क्या ? आज तीनों भाई इकट्ठे होंगे। यह तो अच्छे लक्षण नहीं। आज यह त्र्यहस्पर्श कैसे ?"

राजधर ऐसे खुलकर हँसे कि मानो बड़ा-भारी मजाक हो गया, पर कुछ बोले नहीं। कमलादेवीने कहा, "नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता,—रोज-रोज वे तो शिकार खेलने जायें और मैं घरमें बैठी फिकरके मारे मरती रहूं !"

राजधरने कहा, "खासकर आजका शिकार रातका है।"

कमलादेवी सिर हिलाती-हुई बोलीं, "हरगिज नहीं। देखूं आज वे कैसे जाते हैं !"

राजधरने कहा, "भाभी-रानी, एक काम करो तुम, उनका धनुष-वाण छिपा दो कहीं।"

कमलादेवीने कहा, "कहाँ छिपाऊँ ?"

राजधरने कहा, "मुझे दो, मैं छिपा रखूँगा।"

कमलादेवी हँस दीं, बोलीं, "यह ठीक है। बड़ा मजा आयेगा !" किन्तु मन-ही-मन सोचने लगीं, 'जरूर इसमें तुम्हारा कोई इरादा छिपा-हुआ है। तुम सिर्फ मेरे उपकारके लिए ही यहाँ आये हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता।'

"चलो, अस्त्रशाला चलो।"—कहती-हुई कमलादेवी राजधरको साथ लेकर अस्त्रशालाकी तरफ चल दीं। चाभीसे उन्होंने अस्त्रशालाका दरवाजा खोल दिया। राजधरने ज्यों ही भीतर कदम रखा कि चटसे कमलाने दरवाजेका ताला लगा दिया। राजधर भीतर बन्द हो गये। कमलादेवीने बाहरसे हँसते-हुए कहा, "कुँवर साहब, अब मैं जाती हूं।"

शामको इन्द्रकुमार अन्तःपुरमें जाकर अस्त्रशालाकी चाभी ढूँढ़ने लगे,—पर हो तो मिले। कमलादेवीने हँसते-हुए कहा, "क्यों, क्या बात है, मुझे ढूँढ़ रहे हो क्या ? मैं तो खोई नहीं।" शिकारका समय निकला जा रहा था, इससे इन्द्रकुमार दूने आग्रहके साथ चाभी ढूँढ़ने लगे। कमलादेवी पतिके सामने जा खड़ी हुईं और हँसती-हुई बोलीं, "अजी, मैंने कहा, सुझाई नहीं देता क्या ? आँखोंके सामने ही तो खड़ी हूँ, फिर भी सारे महलमें नाचते फिरते हो,—बात

क्या है ?" आखिर हारकर इन्द्रकुमारको लगभग प्रार्थनाके स्वरमें कहना पड़ा, "देवी, इस समय छेड़छाड़ न करो,— मेरी एक बड़ी जरूरी चीज खो गई है।"

कमलादेवीने कहा, "मुझे मालूम है तुम्हारा क्या खोया है। मेरी एक बात मानो तो मैं ढूंढ़ दे सकती हूँ।"

इन्द्रकुमारने कहा, "अच्छा मानूँगा।"

कमलादेवीने कहा, "तो सुनो। तुम आज शिकार खेलने नहीं जा सकते। यह लो अपनी चाभी।"

इन्द्रकुमार बोले, "यह नहीं होगा, यह बात मैं तुम्हारी नहीं मान सकता।"

कमलादेवीने कहा, "चन्द्रवंशमें जन्म लेकर तुम्हारा ऐसा आचरण! एक मामूली-सी प्रतिज्ञा नहीं रख सकते ?"

इन्द्रकुमारने हँसते-हुए कहा, "अच्छा, तुम्हारी ही बात रही। आज मैं शिकारको नहीं जाऊंगा,— बस ?"

कमलादेवीने कहा, "और तुमलोगोंका क्या खोया है, याद कर देखो।"

इन्द्रकुमार बोले, "और तो कुछ याद नहीं आता।"

कमलाने कहा, "अजी, तुम्हारे वे लाड़ले लला कहाँ हैं, सोनेके चाँद ?"

इन्द्रकुमारने मुसकुराते-हुए गरदन हिलाके इशारेमें पूछा, "कहाँ हैं ?"

कमलादेवीने कहा, "तो आओ, दिखाऊँ।"

कमलादेवीने अस्त्रशालाका द्वार खोल दिया। कुमारने देखा कि राजधर फर्शपर चुपचाप बैठे हैं। देखकर वे जोरसे हँस पड़े, बोले, "यह क्या, राजधर, अस्त्रशालामें बन्द कैसे ?"

कमलादेवीने कहा, "ये हमारे ब्रह्मास्त्र हैं!"

इन्द्रकुमारने कहा, "बात तो ठीक है। यहाँके इन सब अस्त्रोंसे इनकी धार कहीं ज्यादा है!"

राजधरने मन-ही-मन कहा, 'तुमलोगोंकी जीभसे ज्यादा नहीं।' राजधर बाहर निकल आये। जान बची और लाखों पाये।

कमलादेवीने गम्भीर होकर पतिसे कहा, "नहीं, कुमार, आज तुम शिकार करने जाओ। तुम्हारा 'वचन' मैं तुम्हें वापस करती हूं।"

इन्द्रकुमारने कहा, "शिकार करूं? अच्छा, करता हूं।" कहते-हुए उन्होंने तीर चढ़ाया और बहुत ही धीरेसे कमलादेवीकी तरफ फेंक दिया। तीर उनके पैरोंके पास जा लगा। इन्द्रकुमारने कहा, "मेरा लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।"

कमलादेवीने कहा, "नहीं, मजाक नहीं। तुम शिकारको जाओ।"

इन्द्रकुमारने कुछ जवाब नहीं दिया। तीर-धनुष एक तरफ डालकर वे बाहर चल दिये।

और सीधे युवराजके पास पहुँचे। बोले, "भाई साहब, आज शिकारकी सहूलियत नहीं मिली।"

चन्द्रनारायणने मुसकुराते-हुए कहा, "समझ गया।"

५

आज परीक्षाका दिन है। राज-प्रासादके बाहर मैदानमें जबरदस्त भीड़ जमा है। राजाका छत्र और सिंहासन प्रभात-सूर्यकी किरणोंसे चमक रहा है। पहाड़ी जगह है ऊँची-नीची। चारों ओर आदमीके सिर-ही-सिर दिखाई दे रहे हैं। लड़के पेड़ोंपर चढ़ गये हैं। एक लड़केने डालीपरसे झुककर एक मोटे आदमीके सिरसे पगड़ी उतार ली और दूसरे आदमीके सिरपर रख दी। जिसकी पगड़ी थी उसने लड़केको पकड़नेकी कोशिश की, किन्तु व्यर्थ। आखिर निराश होकर उसने डाली पकड़के जोरसे हिलाना शुरू किया। जवाबमें लड़केने बन्दरकी नकल करके दाँत दिखा दिये। मोटे आदमीकी दुर्दशा देखकर लोग हँस पड़े। जगह-जगह ऐसी ही मनोरञ्जक घटनाएँ हो रही थीं कि इतनेमें दूरसे राजा आते दिखाई दिये। उनके पीछे थे सभासदगण और धनुष-वाण लिये-हुए तीनों राजकुमार। इसके बाद झण्डेवाले सिपाही आये, भाट आये, और फौज आई, जो एक कतारमें पीछे खड़ी हो गई। बाजेवाले बाजे बजाने लगे। बड़ी-भारी धूम मच गई। भीड़ने उसी क्षण राजाके प्रति सम्मानका भाव दिखाया, और खामोश हो गई।

परीक्षाका समय होते ही ईसा खाँने राजकुमारोंसे तैयार होनेको कहा।

इन्द्रकुमारने युवराजसे कहा, "भाई साहब, आज तुम्हें जीतना ही है, नहीं तो काम नहीं चलेगा।"

युवराजने हँसते-हुए जवाब दिया, "नहीं चलेगा तो क्या! मेरा एक छोटा-सा तीर लक्ष्यभ्रष्ट हो गया तो क्या हुआ,—संसार ठीक वैसे ही चलता रहेगा जैसे अब चल रहा है। और न भी चले, तो भी मेरे जीतनेकी तो कोई आशा ही नहीं मालूम होती।"

इन्द्रकुमारने कहा, "भाई साहब, तुम अगर हारे, तो मैं जान-बूझकर लक्ष्यभ्रष्ट होऊंगा।"

युवराजने इन्द्रकुमारका हाथ पकड़कर कहा, "नहीं, भाई, लड़कपन न करना। कम-से-कम उस्तादका नाम तो रखना ही होगा।"

राजधरका चेहरा मारे चिन्ताके फक पड़ गया था, बेचारे चुपचाप खड़े थे।

ईसा खाँने राजकुमारोंके सामने आकर कहा, "युवराज, समय हो गया, धनुष उठाओ।"

युवराजने देवताका नाम लेकर धनुष सम्हाला। लगभग दो सौ हाथकी दूरीपर पाँच-सात कदली-स्तम्भ इकट्ठे बँधे रखे थे, और उसके बीचमें एक पत्ता लगा दिया गया था। पत्तेके बीचमें काले रंगसे एक आँख बनाई गई थी और उसमें तारा भी बिठा दिया गया था। वाण उस तारेपर लगना चाहिए।

युवराजने वाण चढ़ाया, लक्ष्य स्थिर किया, और वाण छोड़ दिया। वाण लक्ष्यके ऊपरसे निकल गया। ईसा खाँका दाढ़ी-मूँछ-शुदा चेहरा विकृत हो उठा, सफेद भौंहें भी सिकुड़ गईं। पर वे कुछ बोले नहीं। इन्द्रकुमारने चेहरा विषण्ण करके ऐसा भाव धारण किया कि जैसे उन्हें लज्जित करनेके लिए ही भाई साहबने ऐसा किया हो। वे अस्थिर होकर धनुष हिलाते-हुए ईसा खाँसे बोले, "भाई साहब ध्यान देते तो जरूर मार सकते थे, किन्तु उनका इधर कुछ ध्यान ही नहीं।"

ईसा खाँ नाराजीके साथ बोले, "तुम्हारे भाई साहबका दिमाग और-सब जगह ठीक रहता है, सिर्फ तीर चलाते वक्त ही अपनी जगह नहीं रहता। इसकी वजह यह कि उसमें बारीकीकी कमी है।"

इन्द्रकुमार सख्त नाराजीके साथ कुछ जवाब देना चाहते थे ; किन्तु ईसा खाँ इस बातको ताड़ गये, और चटसे राजधरके सामने जाकर बोले, "कुमार, अब तुम चलाओ,— महाराजा देखें ।"

राजधरने कहा, "पहले भाई साहबका हो जाय,— उसके बाद ।"

ईसा खाँ नाखुश हुए, बोले, "यह जवाब-सवालका वक्त नहीं । मेरा हुक्म तामील करो ।"

राजधरको गुस्सा आ गया, किन्तु कुछ बोले नहीं । धनुष-बाण सम्हाला और लक्ष्य स्थिर करके तीर छोड़ दिया । तीर जाकर मिट्टीमें घुस गया ।

युवराजने राजधरसे कहा, "तुम्हारा तीर जरा-सा इधर रह गया,— जरा और जाते ही ठीक जगह जा लगता ।"

राजधरने बिना किसी सङ्कोचके कहा, "लक्ष्य तो ठीक बैठा है । दूरसे दिखाई नहीं दे रहा ।"

युवराजने कहा, "नहीं, तुम्हारा दृष्टिभ्रम है, लक्ष्य ठीक नहीं बैठा ।"

राजधरने कहा, "नहीं, मैं ठीक कह रहा हूं । पास जाकर देखनेपर मेरी ही बात सच साबित होगी ।"

युवराज फिर कुछ नहीं बोले ।

आखिर ईसा खाँके आदेशानुसार इन्द्रकुमारको अत्यन्त अनिच्छाके साथ धनुष उठाना पड़ा । युवराजने उनके पास कातर स्वरमें कहा, "भाई, मैं अक्षम हूं, मुझपर नाराज होना अन्याय है, तुम यदि लक्ष्य भेद न कर सके, तो तुम्हारा वह लक्ष्यभ्रष्ट तीर मेरे हृदयमें आकर लगेगा, यह तुम निश्चित समझना ।"

इन्द्रकुमारने भाईके पाँव छूकर कहा, "भाई साहब, तुम्हारे आशीर्वादसे आज मैं जरूर लक्ष्यभेद करूंगा, इसमें कोई सन्देह नहीं ।"

इन्द्रकुमारने तीर छोड़ा ; और निशाना ठीक जगहपर बैठा । बाजे बज उठे, चारों तरफ जयध्वनि होने लगी । युवराजने जब इन्द्रकुमारको आलिङ्गन किया तो आनन्दसे उनकी आँखोंमें आँसू भर आये ।

वृद्ध ईसा खाँने परम स्नेहके साथ कहा, "कुमार, भगवानकी कृपासे तुम चिरंजीवी होओ ।"

महाराज जब इन्द्रकुमारको पुरस्कार देनेकी तैयारी करने लगे तो चटसे राजधरने उनके सामने जाकर कहा, "महाराज, आपलोगोंको भ्रम हुआ है। मेरा ही निशाना ठीक बैठा है।"

महाराजने कहा, "हरगिज नहीं।"

राजधरने कहा, "महाराज, पास जाकर देखियेगा तो इसका प्रमाण मिल जायगा।"

सब-कोई लक्ष्यके पास गये। देखा कि जो तीर मिट्टीमें बिंधा था उसपर इन्द्रकुमारका नाम है और जो तीर लक्ष्यमें बिंधा था उसपर राजधरका नाम है।

राजधरने कहा, "विचार कीजिये, महाराज !"

ईसा खाँने कहा, "जरूर तरकश बदल गया है।"

किन्तु परीक्षा करके देखा गया कि तरकश नहीं बदला। सब एक दूसरेका मुँह देखने लगे।

ईसा खाँने कहा, "फिरसे परीक्षा की जाय।"

राजधरने अत्यन्त दम्भके साथ कहा, "मैं इसपर राजी नहीं हो सकता। यह बड़ा-भारी अन्याय है। मुझपर अविश्वास ! मैं पुरस्कार नहीं चाहता। पुरस्कार मध्यम कुमारको ही दिया जाय।" यह कहते-हुए उन्होंने पुरस्कारकी तलवार इन्द्रकुमारकी तरफ बढ़ा दी।

इन्द्रकुमार अत्यन्त घृणाके साथ बोल उठे, "धिक, धिक ! तुम्हारे हाथके पुरस्कारको कौन पूछता है ! इसे तुम्हीं रखो अपने पास।" कहते-हुए उन्होंने तलवार झन्न-से राजधरके पैरोंके पास फेंक दी।

राजधरने मुसकराते-हुए भाईको नमस्कार किया और तलवार उठा ली।

इन्द्रकुमारने कम्पित कण्ठसे पितासे कहा, "महाराज, अराकानके राजासे शीघ्र ही युद्ध छिड़नेवाला है। मैं उस युद्धमें जाकर पुरस्कार लाऊंगा। मुझे आदेश दें महाराज !"

ईसा खाँने इन्द्रकुमारका हाथ पकड़ते-हुए कहा, "तुमने आज महाराजका अपमान किया है। उनकी तलवार छू ली तुमने ! तुम्हें इसकी सजा मिलनी चाहिए।"

इन्द्रकुमारने झटकेसे अपना हाथ छुड़ा लिया और कहा, "वृद्ध, मुझे मत छुओ तुम।"

वृद्ध ईसा खाँका चेहरा उतर गया, क्षुब्ध स्वरमें बोले, "कुमार! यह क्या कुमार? मेरे साथ ऐसा सलूक! आज तुम्हें हो क्या गया, बेटा, ऐसे बहक क्यों गये?"

इन्द्रकुमारकी आँखोंमें आँसू भर आये। बोले, "सेनापति साहब, मुझे माफ कीजिये, मैं सचमुच ही बहक गया था।"

युवराजने स्नेहके साथ कहा, "शान्त होओ, भाई! चलो, घर चलें।"

इन्द्रकुमारने पिताके चरण छूकर कहा, "पिता, मेरा अपराध क्षमा कर दीजिये।" और वापस लौटते वक्त युवराजसे बोले, "भाई साहब, आज मेरी वास्तवमें हार हुई है।"

राजधर कैसे जीते, सो किसीकी समझ ही में न आया।

६

राजधर परीक्षाके एक दिन पहले जब कमलादेवीकी सहायतासे इंद्रकुमारकी अस्त्रशालामें घुसे थे, तभी वे इन्द्रकुमारके तरकशमेंसे एक तीर बदल लाये थे; और अपना एक तीर उनके तरकशमें ऐसे ढंगसे रख आये थे कि जिसपर सबसे पहले और सहज ही उनका हाथ पड़े। राजधरने जैसा सोचा था ठीक वैसा ही हुआ।

इन्द्रकुमारने दैवसे वही तीर उठाया जिसे राजधर रख आये थे; और इस तरह परीक्षाके समय उनकी हार हुई। कुछ समय बाद जब वातावरण शान्त हो गया तब इन्द्रकुमार राजधरकी चालाकी समझ गये; किन्तु किसीसे कुछ कहा नहीं: सिर्फ राजधरके प्रति उनकी घृणा और भी बढ़ गई।

इन्द्रकुमार महाराजसे बार-बार कहने लगे, "महाराज, मुझे अराकानकी लड़ाईमें भेज दीजिये।"

महाराज विचार करने लगे।

यह लगभग तीन सौ वर्ष पहलेका किस्सा है। उस समय त्रिपुरा स्वाधीन था ; और चटगाँव त्रिपुराके अधीन था। अराकान चटगाँवसे सटा-हुआ है। अराकानके राजा अक्सर चटगाँवपर चढ़ाई कर दिया करते थे, इसलिए अराकान और त्रिपुरामें हमेशा विरोध बना रहता था। कुछ दिन हुए, फिर एक विरोध उठ खड़ा हुआ। और युद्धकी सम्भावना देख अबकी बार इन्द्रकुमारने प्रस्ताव किया कि इस युद्धमें वे भी जायेंगे। राजाने बहुत विचार करनेके बाद अन्तमें सम्मति दे दी। तीनों भाई पाँच-पाँच हजार करके कुल पन्द्रह हजार सेना लेकर चटगाँवकी तरफ चल दिये। ईसा खाँ प्रधान सेनापति नियुक्त किये गये।

कर्णफूली नदीके पश्चिम-तटपर पड़ाव डाला गया। अराकानकी सेना कुछ इस पार थी और कुछ उस पार। राजा थोड़ी-सी सेनाके साथ उस पार थे और उनके बाईस हजार सैनिक युद्धके लिए तैयार होकर पश्चिम-तटपर आक्रमणके लिए प्रतीक्षा कर रहे थे।

युद्धक्षेत्र पर्वतमय है। आमने-सामने दो पहाड़ोंपर दोनों पक्षोंकी सेना लड़ाईके लिए तैयारी करने लगी। दोनों पक्ष अगर हमला शुरू करें, तो बीचकी उपत्यकामें संघर्ष हो सकता है। पर्वतके चारों तरफ हर्र, आँवला, शाल और गम्भीरीका जंगल है। बीच-बीचमें छोटे-छोटे गाँव हैं, किन्तु ग्रामवासी अपनी झोंपड़ियाँ खाली करके भाग गये हैं। कहीं-कहीं खेत भी हैं। दाहनी तरफ कर्णफूली-नदी है और बाईं तरफ दुर्गम पर्वत।

एक सप्ताह हो गया ; दोनों पक्ष सुविधानुसार आक्रमणकी प्रतीक्षामें डटे हुए हैं। इन्द्रकुमार युद्धके लिए चञ्चल हो उठे हैं ; किन्तु युवराज चाहते हैं कि शत्रुकी तरफसे पहले आक्रमण हो, तब उनकी तरफसे युद्ध छिड़े। इसलिए वे विलम्ब करने लगे। किन्तु शत्रुपक्ष भी स्थिर है ; उसके मनमें भी शायद यही बात है। अन्तमें आक्रमण करना ही तय हुआ।

रात-भर आक्रमणकी तैयारियाँ होती रहीं। राजधरने प्रस्ताव किया, "भाई साहब, तुम-दोनों अपनी दस हजार सेना लेकर आक्रमण शुरू कर दो। मेरी पाँच हजार सेना हाथमें रहने दो, जरूरतके वक्त काम आयेगी।"

इन्द्रकुमारने हँसते-हुए कहा, "राजधर दूर रहना चाहते हैं।"

युवराजने कहा, "नहीं, हँसीकी बात नहीं। राजधरका प्रस्ताव मुझे अच्छा मालूम होता है।"

ईसा खाँने भी यही बात कही। राजधरका प्रस्ताव मान लिया गया। युवराज और इन्द्रकुमारके अधीन जो दस हजार फौज थी उसे पाँच भागोंमें विभक्त कर दिया गया। तय हुआ कि एकसाथ पाँच तरफसे शत्रुपर आक्रमण किया जाय। प्रत्येक विभागमें सामने धनुष-सेना रखी गई, उसके पीछे तलवार और भालेवाले रहे, और सबसे पीछे चले घुड़सवार।

अराकानकी 'मग'-सेनाने एक लम्बे बाँसके जंगलके पीछे अपना व्यूह रचा था। पहले दिनके आक्रमणसे उनका कुछ भी नहीं बिगड़ा। त्रिपुराकी सेना व्यूहको न तोड़ सकी।

७

दूसरे दिन, दिन-भर युद्ध होता रहा, किन्तु कोई नतीजा नहीं निकला। अन्तमें निशीथ रात्रिमें, जब कि दोनों पक्षोंकी सेना विश्राम करने लगी और चारों तरफ सन्नाटा छा गया, तब देखा गया कि दो कोसकी दूरीपर राजधर अपनी पाँच हजार सेनाके साथ, नावोंका पुल बनाकर, कर्णफूली-नदी पार कर रहे हैं! एक भी मशाल नहीं, जरा भी आवाज नहीं, चुपचाप बड़ी सावधानीसे सेनाका सञ्चालन किया जा रहा है। नदीके उस पार दुर्गम पहाड़ है, इसलिए सेनाको पार उतरकर अपने लिए स्थान करनेमें कठिनाईका सामना करना पड़ रहा है।

किन्तु, ईसा खाँका राजधरके प्रति आदेश था कि 'वे रातको अपनी सेना लेकर नदीके किनारे-किनारे उत्तरकी तरफ बढ़ें और शत्रु-सेनाके पीछेके जंगलमें जा छिपें। सवेरे युवराज और इन्द्रकुमार सामनेसे हमला कर दें; और युद्ध करते-करते जब कि शत्रु-सेना थकने लगे तब सङ्केत पाते ही राजधर पीछेसे हमला कर दें।' इसीलिए पहलेसे नावोंका इन्तजाम किया गया था। किन्तु

राजधरने उस आदेशका कहाँ पालन किया ? वे तो सेना लेकर नदीके उस पार चले गये !

असलमें, राजधरने अपनी एक रहस्यपूर्ण गूढ़ चाल चली है ; और उसका किसीको कुछ पता तक नहीं ।

वे चुपचाप अराकानके राजाके शिविरकी तरफ चल दिये हैं । चारों तरफ पहाड़ है, बीचमें है उपत्यका,—वहीं राजाका शिविर है । शिविरमें सब कोई निश्चिन्त होकर सो रहे थे । उपत्यकाकी मशालोंसे शत्रु-शिविरका स्थान-निर्णय करके राजधरकी पाँच हजार सेना अत्यन्त सावधानीसे बड़े-बड़े जंगल पार होकर अत्यन्त मन्दगतिसे उपत्यकामें उतरने लगी ; जरा भी आवाज नहीं होने दी। सहसा पाँच हजार सेनाका भीषण चीत्कार उठा। छोटा-सा पड़ाव मानो विदीर्ण हो गया । सोते-हुए लोग कीड़ोंकी तरह एकसाथ बाहर निकल आये । किसीने सोचा कि सपना है, किसीने समझा कि भूतोंका उपद्रव है, और कोई-कोई तो कुछ समझ ही न सके ।

राजा बिना रक्तपातके बन्दी हो गये। राजाने कहा, "मुझे कैद करने या मार डालनेसे लड़ाई खतम नहीं होगी। मेरे कैद होते ही मेरे भाई हामचुमाचूको लोग राजा बनायेंगे, और फिर पहलेकी तरह लड़ाई चलती रहेगी। इससे बल्कि एक काम करो, मैं हार मानकर सन्धिपत्र लिखे देता हूं, मुझे छोड़ दो ।"

राजधर इस बातपर तुरत राजी हो गये। अराकानके राजाने हार मानकर सन्धिपत्र लिख दिया ; और साथ ही एक हाथीके दाँतका बना मुकुट, पाँच सौ मणिपुरी घोड़े और तीन बड़े-बड़े हाथी उपहारमें दिये। इस तरह नाना व्यवस्था करते-कराते सवेरा हो गया, और फिर दिन भी चढ़ गया ।

लम्बी काली रातमें कल जो भूतोंका उपद्रव मालूम हो रहा था, दिन होते ही अराकानकी फौज उसे अपने अपमानका कारण समझने लगी । राजधरने अराकान-पतिसे कहा, "अब देर करना ठीक नहीं, जल्दी युद्ध बन्द करनेके लिए अपने सेनापतिको आदेशपत्र लिखकर भेज दीजिये। उस पार जबरदस्त युद्ध हो रहा है ।"

कुछ सैनिकोंके हाथ आदेशपत्र भेज दिया गया ।

८

पौ फटते ही युवराज और इन्द्रकुमार दो भागोंमें विभक्त होकर पश्चिम और पूर्व दिशासे शत्रुपर आक्रमण करने चल दिये। सेनाकी कमीके विषयमें एक-हजारी अध्यक्ष रूपनारायण ओफसोस कर रहे थे; कह रहे थे, "और पाँच हजार फौज साथ लेते आते, तो कोई फिकरकी बात नहीं होती।"

इन्द्रकुमारने कहा, "त्रिपुरारिने अनुग्रह किया तो इसी सेनासे हम विजयी होंगे। और यदि उनका अनुग्रह नहीं, तो जो कुछ बीते, हमपर ही बीतने दो, त्रिपुरावासी जितने कम मरें उतना ही अच्छा। किन्तु मेरा विश्वास है कि आज हम जरूर जीतेंगे।"

इतना कहकर वे 'बम! बम!'—ध्वनि करते-हुए अत्यन्त उत्साहके साथ घोड़ेपर सवार हुए और शत्रुपक्षके पड़ावकी तरफ दौड़ पड़े। उनका वह दीप्त उत्साह उसी क्षण समस्त सेनामें बिजलीकी तरह व्याप्त हो गया। गर्मीके दिनोंमें दखिनी हवामें फूसकी झोंपड़ियोंपरसे जैसे आग दौड़ती है उसी तरह उनकी सेना शत्रुपर हमला करने दौड़ पड़ी। कोई भी उसकी गतिको रोक न सका। शत्रुपक्षका दक्षिण-दिशाका व्यूह छिन्न-भिन्न हो गया।

अन्तमें हाथों-हाथ तलवारकी लड़ाई चलने लगी। मूली-गाजरकी तरह माथे कट-कटकर जमीनपर गिरने लगे। इन्द्रकुमारका घोड़ा कट गया। वे जमीनपर जा गिरे। सेनामें शोर उठा कि वे मारे गये। किन्तु उसी क्षण वे तलवारसे एक घुड़सवारको गिराकर खुद उसके घोड़ेपर सवार हो गये, और रकाबपर खड़े होकर सूर्य-किरणोंमें अपनी तलवार उठाकर जोरसे चीत्कार कर उठे, "हर हर! बम बम!" युद्धकी आग दूनी जल उठी। यह हाल देखकर मगोंके उत्तरी व्यूहकी सेनाने, आक्रमणकी प्रतीक्षा न करके, सहसा युवराजकी सेनापर हमला कर दिया। युवराजकी सेनाने सहसा ऐसे आक्रमणकी आशा नहीं की थी। वह क्षणमें विशृङ्खल हो गई। उसके अपने घोड़े अपने पयादोंके ऊपर जा पड़े, पयादे इधर-उधर भागने लगे; और फिर कोई कुछ तय न कर सका कि क्या किया जाय।

युवराज और ईसा खाँ असीम साहसके साथ अपनी सेनाको संयत करनेकी जी-जानसे कोशिश करने लगे, किन्तु कुछ भी न कर सके। पास ही राजधरकी सेना छिपी पड़ी है – यह जानकर वे बार-बार संकेत-ध्वनि करने लगे; किन्तु कुछ फल न हुआ। ईसा खाँने कहा, "राजधरको पुकारना फजूल है। वह गीदड़ दिनमें अपने गड्ढेसे नहीं निकलेगा।" और वे तुरन्त घोड़ा छोड़कर जमीपर कूद पड़े। पश्चिमकी तरफ मुँह करके जल्दीसे नमाज पढ़ ली, और मरनेके लिए तैयार होकर लड़ने लगे। चारों तरफसे मौत ज्यों-ज्यों उन्हें घेरती आई, त्यों-त्यों मानो उनमें यौवन लौटना ही आया।

इतनेमें इन्द्रकुमार शत्रु-सेनाके एक अंशको जीतकर उनके पास आ पहुँचे। आकर देखा कि युवराजकी घुड़सवार-सेनाका एक दल विच्छिन्न होकर इधरसे उधर भाग रहा है। उन्होंने उसे संयत करके अपने साथ ले लिया। फिर तेजीसे वे युवराजकी सहायताके लिए आगे बढ़े। किन्तु विश्रृङ्खलता ऐसी थी कि उसमें वे कुछ कर न सके। राजधरकी सहायता पानेके लिए बार-बार संकेतध्वनि करते रहे; किन्तु कहींसे कोई भी सहायता नहीं आई।

सहसा मानो मन्त्रबलसे सब-कुछ रुक गया। जो जहाँ थे सब वहाँके वहीं स्थिर खड़े हो गये। यहाँ तक कि घायल सैनिकोंका अर्तनाद और घोड़ोंका हिनहिनाना तक बन्द हो गया।

सन्धिका झण्डा लेकर आदमी आये हैं। मग-राजने हार मंजूर कर ली है। 'हर हर! बम बम!'-के नादसे आकाश विदीर्ण होने लगा। मग-सेना आश्चर्यके साथ एक दूसरेका मुँह देखने लगी।

६

राजधर जब जयोपहार लेकर आये, तो उनके चेहरेपर इतनी हँसी थी कि उनकी छोटी-छटी आँखें बूँद-सी बनकर चमकने लगीं। हाथी-दाँतका मुकुट निकालकर इन्द्रकुमारको दिखाते-हुए वे बोले, "यह देखो, मैं युद्धकी परीक्षामें उत्तीर्ण होकर यह पुरस्कार लाया हूं!"

इन्द्रकुमार क्रुद्ध हो उठे, बोले, "युद्ध ! युद्ध तुमने किया ही कब ! यह पुरस्कार तुम्हारा नहीं, युवराजका है। मुकुट युवराज पहनेंगे।"

राजधरने कहा, "मैं जीतकर लाया हूं, यह मुकुट मेरा है, मैं पहनंगा।"

युवराजने कहा, "राजधर ठीक कह रहे हैं : यह मुकुट उन्हींका है।"

ईसा खाँको राजधरपर गुस्सा आ गया, वे बोले, "तुम मुकुट पहनकर देश जाओगे ! किन्तु तुम जो सेनापतिका आदेश उल्लङ्घन करके युद्धसे भाग गये थे उसका कलङ्क इस मुकुटसे नहीं ढक सकता।"

राजधरने कहा, "खाँ साहब, अब तो तुम्हारे मुँहसे बोल निकल रहे हैं ! मगर यह तो बताओ, मैं न होता तो अब तक तुमलोग होते कहाँ?"

इन्द्रकुमारने कहा, "और चाहे जहाँ भी कहीं होते, पर युद्ध छोड़कर किसी गड्ढेमें हरगिज नहीं छिपे रहते।"

युवराजने कहा, "इन्द्रकुमार, तुम अनुचित कह रहे हो,– सच तो यह है कि राजधर न होते तो आज हम बड़े सङ्कटमें पड़ जाते।"

इन्द्रकुमारने कहा, "राजधर नहीं होते तो आज हमपर कोई सङ्कट ही न आता, और यह मुकुट मैं लाता युद्ध जीतकर। राजधर इसे चुरा लाये हैं। भाई साहब, मुकुट लाकर मैं तुम्हींको पहनाता, मैं नहीं पनहता।"

युवराजने मुकुट अपने हाथमें लेकर राजधरसे कहा, "भाई, आज तुम्हीं जीते हो। तुम न होते तो इतनी कम सेना लेकर हमारा लड़ना व्यर्थ हो जाता। यह मुकुट मैं तुम्हींको पहनाता हूं।" और मुकुट पहना दिया।

किन्तु इन्द्रकुमारको इससे गहरी चोट पहुंची। उन्होंने रुद्ध कण्ठसे कहा, "भाई साहब, राजधर रातको शृगालकी तरह छिपकर मुकुट चुरा लाये, और उन्हींको मुकुटका पुरस्कार मिला ! और मैंने जी-जानसे युद्ध किया, फिर भी, तुम्हारे मुँहसे प्रशंसाका एक शब्द भी मुझे नहीं मिला ! ऊपरसे यह और सुनना पड़ा कि राजधर न होते तो हमारा सङ्कटसे उद्धार होना मुश्किल था। क्यों, भाई साहब, मैंने क्या सवेरेसे शाम तक तुम्हारी आँखोंके सामने युद्ध नहीं किया? मैं क्या युद्ध छोड़कर भाग गया था, मैंने क्या कोई कायरता दिखाई थी? मैं क्या शत्रु-सेनाको छिन्न-भिन्न करके तुम्हारी सहायताके लिए नहीं

आया ? यह तुमने क्या देखकर कहा कि तुम्हारे परम स्नेहके भाई राजधरके सिवा और-कोई भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता था ?"

युवराजने अत्यन्त क्षुब्ध होकर कहा, "भाई, मैं अपनी रक्षाकी बात नहीं कह रहा—"

बात खतम भी न हो पाई कि इन्द्रकुमार तेजीसे बाहर निकल गये।

ईसा खाँने युवराजसे कहा, "युवराज, तुम्हें कोई अधिकार नहीं कि तुम यह मुकुट किसीको उपहारमें दो। मैं सेनापति हूँ, मैं जिसे दूंगा यह मुकुट उसीका होगा।" कहते-हुए वे राजधरके मस्तकसे मुकुट उतारकर युवराजको पहनानेके लिए आगे बढ़े।

युवराज पीछे हटकर बोले, "नहीं, मैं इसे नहीं ले सकता।"

ईसा खाँने कहा, "तो रहने दो। यह मुकुट किसीको नहीं मिलेगा।" और मुकुटको पाँवसे ठुकराकर कर्णफ़ुली-नदीमें फेंक दिया। बोले, "राजधरने युद्धके नियमका उल्लङ्घन किया है। वह दण्डका पात्र है।"

१०

इन्द्रकुमार आहत-हृदयसे अपनी सारी सेना लेकर शिविर छोड़कर दूर चले गये। युद्ध समाप्त हो चुका था। त्रिपुराकी सेना पड़ाव उठाकर राजधानीको लौटनेकी तैयारी कर रही थी कि सहसा एक नया सङ्कट आ खड़ा हुआ।

ईसा खाँने जब मुकुट छीन लिया तो राजधरने मन-ही-मन कहा, 'अच्छी बात है, मैं भी देख लूँगा कि मेरे बिना कैसे तुमलोग बचके जाते हो।'

इसके दूसरे ही दिन राजधरने अराकानके राजाको एक गुप्त पत्र भेज दिया। उसमें त्रिपुराकी फूटका समाचार देते-हुए उन्होंने अराकानके राजाको अकस्मात् आक्रमण कर देनेके लिए लिखा था।

इन्द्रकुमार जब सबसे अलग होकर अपनी सेनाके साथ बहुत दूर निकल गये और युवराजकी सेनाने जब अपनी राजधानीकी ओर कूच कर दिया, तब सहसा मगोंने पीछेसे हमला बोल दिया।

राजधर अपनी सेनाके साथ कहाँ गायब हो ये कुछ पता ही न चला।

युवराजके हतावशिष्ट तीन हजार सैनिक लगभग चौगुनी शत्रु-सेना द्वारा घेर लिये गये। ईसा खाँने युवराजसे कहा, "आज अब बचनेका कोई रास्ता बन्द देखकर फौज उन्मत्त होकर लड़ने लगी। ईसा खाँने दोनों हाथोंमें दो तलवार ले लीं; और उन्हें इतनी तेजीसे चलाने लगे कि उनके चारों तरफ एक भी आदमी न टिक सका। युद्धक्षेत्रमें एक जगह एक छोटा-सा झरना बह रहा था, उसका पानी लाल हो गया।

ईसा खाँ शत्रुका व्यूह तोड़कर लड़ते-लड़ते पहाड़की चोटीके पास तक पहुँचे ही थे कि इतनेमें एक तीर आकर उनकी छातीमें समा गया। उन्होंने अल्लाहका नाम लिया; और घोड़ेपरसे गिर पड़े।

युवराजकी जाँघमें एक तीर लगा, दूसरा तीर पीठमें लगा और तीसरा तीर उनके हाथीकी छातीमें घुस गया। माहुत घायल होकर नीचे गिर गया, हाथी युद्धक्षेत्र छोड़कर उन्मत्तकी तरह भाग खड़ा हुआ। युवराजने उसे रोकने और लौटानेकी बहुत कोशिश की, पर व्यर्थ हुआ। अन्तमें युद्धक्षेत्रसे बहुत दूर निकल जानेके बाद यन्त्रणा और रक्तपानसे कमजोर हो जानेसे उन्हें बेहोशी आ गई; और कर्णफूली-नदीके किनारे वे हौदेसे गिर पड़े।

११

रात हो गई, चाँद निकल आया। और-और दिन चाँदनी जहाँ रंग-विरंगे छोटे-छोटे वन-फूलोंपर पड़कर पार्वत्य दृश्योंको उपभोग्य बना देती थी, वहाँ आज वह वीभत्सताका नग्न रूप दिखा रही है। चारों तरफ हजारों कटे-हुए सिर और धड़-ही-धड़ दिखाई दे रहे हैं। स्फटिकके समान निर्मल जिस झरनेके जलमें चन्द्रका प्रतिविम्ब रात-भर नाचा करता था, उस झरनेकी गति ही आज घोड़ोंकी लाशोंसे रुक गई; और उसका पानी खूनके रंगमें रंग गया। किन्तु दिनकी कड़ी धूपमें जहाँ मृत्युका भीषण उत्सव हो रहा था, रातकी चाँदनीमें वहाँ कैसी अगाध शान्ति, कैसा गभीर विषाद है! मृत्युका नृत्य मानो शेष

हो गया, विशाल नाट्यशालाके चारों तरफ भग्नावशेष-मात्र पड़ा है। न कोई शब्द है, न प्राण हैं, न चेतना। हृदयकी तरङ्ग तक स्तब्ध है। एक तरफ पहाड़की लम्बी छाया है और दूसरी तरफ चाँदकी चाँदनी।

इस युद्धका समाचार पाते ही इन्द्रकुमार लौट पड़े। युवराजको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे नदीके किनारे पहुँचे। देखा कि वे बिलकुल पानीके पास पड़े हैं। बीच-बीचमें अञ्जलिसे पानी पी रहे हैं और फिर शिथिल होकर पड़ रहते हैं। चारों तरफ सन्नाटा है। दूर-समुद्रसे हवा आती है और पेड़की पत्तियोंको हिला जाती है। कहीं कोई जन-प्राणी नहीं। आकाशमें अकेला एक चन्द्रमा है, उसकी चाँदनीसे अनन्त नीलाकाश पाण्डुवर्ण हो गया है।

इतनेमें इन्द्रकुमारने जब "भइया"-कहके पुकारा, तो आकाश-पाताल मानो चौंक पड़ा।

चन्द्रनारायण मानो चौंककर जाग उठे, बोले, "आओ, भाई!" और आलिङ्गनके लिए दोनों हाथ बढ़ा दिये। इन्द्रकुमार भाईके आलिङ्गनमें बँधकर नन्हे बच्चेकी तरह रोने लगे।

चन्द्रनारायण धीरे-धीरे कहने लगे, "भाई, अब मेरे जीमें जी आ गया। 'तुम आओगे'- यह जानकर ही शायद अब तक मेरे प्राण निकल नहीं रहे थे। भाई, तुम मुझसे रूठकर चले गये थे। तुम्हें बिना मनाये भला मैं कैसे जा सकता था! आज फिर भेंट हो गई, तुम्हारा प्रेम फिर वापस मिल गया, अब मरनेमें मुझे कोई भी कष्ट नहीं।" कहते-हुए उन्होंने दोनों हाथोंसे अपनी जाँघ और पीठमें बिंधे-हुए दोनों तीर निकालकर फेंक दिये। खूनका फव्वारा छूट निकला, और देखते-देखते शरीर ठण्डा पड़ गया।

मृदुस्वरमें बोले, "मरनेका मुझे दुःख नहीं, किन्तु हमारी पराजय हुई---"

इन्द्रकुमारने रोते-हुए कहा, "पराजय तुम्हारी नहीं हुई, भइया! पराजय मेरी हुई है।"

चन्द्रनारायणने ईश्वरका स्मरण किया, और हाथ जोड़कर कहा, "दयामय, इस भवका खेल तो खतम कर चुका, अब तुम मुझे अपनी गोदमें स्थान दो।" और आँखें मीच लीं।

पौ फटते ही नदीके पश्चिम-तटपर चन्द्रमा जब पीला पड़ने लगा तब चन्द्रनारायणका चेहरा भी पीला पड़ चुका था। चन्द्रमाके साथ ही उनके जीवनका भी अस्त हो गया।

परिशिष्ट

विजयी मग-सेनाने सारा चट्टग्राम त्रिपुरासे छीन लिया। त्रिपुराकी राजधानी तक लूट ली। अमरमाणिक्य देवघाट भाग गये; और अपमानकी ग्लानिसे उन्होंने आत्महत्या कर ली। इन्द्रकुमार मगोंसे लड़कर मर गये; जीवन और कलङ्क लेकर घर लौटनेकी उनकी इच्छा ही नहीं हुई।

राजधर राजा हुए; किन्तु तीन ही साल राज्य कर सके। उसके बाद वे गोमतीमें डूब मरे।

इन्द्रकुमार जब युद्ध करने गये थे, उनकी स्त्री गर्भवती थीं। उनके पुत्र कल्याणमाणिक्य, राजधरकी मृत्युके बाद, राजा हुए। वे अपने पिताके समान ही वीर थे। सम्राट शाहजहाँकी सेनाने जब त्रिपुरापर चढ़ाई की थी तब कल्याणमाणिक्यने उसे परास्त कर दिया था।

बंगला-रचना : वैशाख १९४२

हिन्दी-रूपान्तर : श्रावण २००६

स्मरण

•

सहधर्मिणीके
वियोगमें
स्मरण

•

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

•

अनुवादकर्ता
मुंशी अजमेरी

•

कवि-पत्नी मृणालिनी देवीका प्रयाण-दिवस
बंगला तारीख ७ अगहन १३०९
विक्रम संवत् १९५९

15 - 8

समर्पण

काव्य-अकास प्रकास करि
राजत रहौ रवीन्द्र ;
ब्रज - बाँनीके बेषमें
निज कृति लेहु कवीन्द्र !

∵

इस संग्रहकी आरम्भकी तीन कविताएँ 'मरण'-विभागकी हैं
और शेष चौबीस कविताएँ 'स्मरण'-विभागकी हैं

स्मरण

१

प्रातहु आज स्रान्त नैननिमें
है कातर निंदियाकौ जोर ।
दुख-सिजियापै जागत-जागत
ह्वै आयौ रजनीकौ भोर ।
नव-बिकसित कुसुमित द्रुम-वनकी,
नव-जाग्रत मृदु सीत-पवनकी
अजहुँ सङ्गिनी ह्वै न सकति यह
देह-लता अरु हृदय-हिलोर ।

मम ढिंगतें प्रभात यह तुमरौ
करौ आज इक ओर करौ ।
खेल - मेल आलोक गीत ये
आज इहाँतें सकल हरौ ।
प्रात-जगततें मोहिं बिलगाय
लेहु करुन तम माँहिं लुकाय,
या उदास हियरें लै बाँधौ
निज सनेह-बहियाँकी डोर ।

२

जबलौं इहाँ रही वह तबलौं
देन रही जो बारम्बार
अब अवसर ना रह्यो करूँ जो
वाकौ कछु प्रतिदान-प्रकार ।

वाकी रात प्रभात भई,
तुमनें वाय बुलाय लई,
सौंपि दयौ तुमरे चरननिमें
निज कृतज्ञताकौ उपहार।

वा ढिंग जेते दोष किये ते,
और कोर - कसरनिके काज,
तिनकी तुमपै छमा लऊंगौ
तव पद-पदुमनिमें परि आज।
वाय नाँयँ जो दयौ रह्यौ,
जो कछु सौंपनि वाय चह्यौ,
सो धरि दीनों आज तिहारे
पूजा - थार प्रेमकौ हार।

३

आई हुती प्रेमकी प्रतिमा, चली गई सो खोलि दुवार,
पलटैगी न पिछारी।
अब अवसेस रह्यौ है केवल अतिथि और-इक आवनहार,
तासों सेस चिन्हारी।
सो दैहै बुझाय यह दीपक एक दिवस आवनके साथ,
मोकों लैकें रथपै,
लै जावैगौ गृहतें कौनहुँ गृह-बिहीन गहि मेरौ हाथ
ग्रह - तारागन - पथपै।

तबलौं बैठ्यौ इहाँ रहूंगौ मैं इकलौ ही खोलि दुवार,
चुकतौ करिकें कामैं।

समयौ वा इक और अतिथिकौ जब आवैगौ आवनहार,
लहै न बाधा जामें।
पूजाके आयोजनकौ सब इक दिन साङ्ग होयगौ साज,
मैं तैयार रऊँगौ,
चुपकेतें पसारि दोऊ कर वा गृहहीन अतिथिके काज
भुज-भरि भेंट लऊंगौ।

मोहिं छोड़िकें आज अचानक चली गई जो खोलि दुवार
कहि गई सोइ सयाँनी,
'अँसुवा पोंछौ, अजहुँ और इक अतिथि सेस है आवनहार
आवैगौ, हम जाँनी।'
सोइ कहि गई, 'गूँथिबौ पूरौ कीजौ इक दिन, काँटे बीन
या जीवनके सारे,
नव-गृह माँहिं नयौपन लैकें चले आइयौ तुम गृहहीन,
पूरी माला धारे।'

४

तब अँधियारी अरध रात्रि ; चलि दई अकेली घरतें,
चली नाहिं जा डगर कबहुँ अनजाँनी नाहि डगरतें।
गमन समय ना कही कौनहू कथा अनार्ता - आर्ता,
ना लै गई सङ्ग काहूकी कछू बिदाकी वार्ता।
नींद-मगन संसार माँहिं, हा, एकाकिनि उठि धाई,
अन्धकारमें खोज फिर्यौ, पै कतहूं दृष्टि न आई!
वा मुद मङ्गल - मूरति, सूरति वा मेरी चिर - परिचित
अनगनित तारक-मण्डलमें कित भई, हाय, अन्तरहित!

अरे, गईं जो गईं एकदम रीते हाथनि ह्वैकें ?
या घरतें तुम सङ्ग आपने का कछु गईं न लैकें ?
प्रिये, बीस बरसनिके अपने सुख - दुखके सब भारें
डारि गईं मेरे ऊपर तुम आज एक ही बारें !
प्रतिपलके वा प्रचुर प्रेमकों बहु दिवसनिलौं धरिकें
मङ्गल करनि सँवार्‍यौ जो घर नित नव-मङ्गल भरिकें,
परिपूरन करि वाकों वामें निज सनेह करि सञ्चित
चलीं गईं तुम कछु न लये बिन आज वाहि करि वञ्चित ?

हाय, हाय, तुम बिना निहारे या संसार मझारी
अजहूं सुदिन - कुदिन आवेंगे केते बारी - बारी,
तब या सूने घरमें अपने चिराभ्यास - बस आकें,
हाय, कौनकी ओर तकूँगौ तुम्हें खोजिबे जाकें ?
आज प्रस्न बस एक उठत है मेरे मनमें बजिकें,
'सुभगे, जो तुम गई, गई हौ मोतें आगें भजिकें,
मो लगि जुगल सिनिग्ध करनितें का नित ही की नाईं
कहूँ बिछाय राखिहौ सिजिया चिर - सन्ध्याके ताईं ?'

५

मेरे घरमें अब नाहीं वह, है नाहीं घर माँहिं:
ढूँढ़नि जाय लौट आवत हौं, ढूंढ़ें पावत नाहिं।
मेरे घरमें, नाथ, यही बस, इतनों ही है स्थाँन,
ह्यांतें खोय जात जो ताकौ परत न पतौ-निसाँन।
गेह अनन्त तिहारौ है अरु अखिल बिस्वमय धाम,
आयौ ताहि ढूँढ़िबेकों तहँ, हे प्रभु, पूरनकाम!
तव सन्ध्या - नभके नीचें हौं ठाड़ौ भयौ अधीर,
तक्यौं तिहारी ओर एकटक भरि नैननिमें नीर।

कौंनहुँ मुख, कौंनहुँ सुख, कौंनहुँ आसा - तिसना और
खोय सकति नहिं जहँतें कबहूँ, ऐसौ है यह ठौर,
तहाँ, नाथ, अपनों ल्यायौ हूँ पीड़ित हियौ लिवाय,
दीजे याकों, दीजे याकों, दीजे बेगि डुबाय।
मेरे घरमें नाहिं और अब जो इमरत-रस नाहिं,
अपनों खोयौ-भयौ परस, सो हौं पाऊँ जग माहिं।

६

जबलौं घरमें रहीं, बुलावति रहीं मोहिं घर माँहीं,
अपने कोमल करुन कण्ठतें सुधा-भरे स्वर माँहीं।
चलीं गईं तुम आज बिस्वमें जब, हे करुनावारी,
मोहिं बुलाऔ वाही सकरुन स्वतें बिस्व मझारी।
चली गईं हौ खुल्यौ छोड़िकें तुम जा घरकौ द्वारौ,
है अब ताकों बन्द करनको कोउ न कहिबेवारौ।
राजपन्थ बाहरकौ तुमने मोहिं दिखाय दियौ है,
तुमरी मूक बिदाको लैकें कसकत आज हियौ है।
बिस्व - देवताके चरनकिकौ आज आसरौ लैकें,
गेह - लच्छमी, दरस देहु मोहिं बिस्व - लच्छमी हैकें।
निखिल नखत-मालातें कढ़िकें कोमल किरननि रेखा
आँकि देय सीमन्त - देसमें सेंदुरकी सुभ लेखा।
करत आज एकान्त बैठिकें ध्यान याहि छबिवारौ,
सब - काहूके मङ्गलमें ही मङ्गल होय तिहारौ।

७

कहौ, रहीं जबलौं ढिंग तबलौं करिकें कवन उपाय
राखति रहीं आप अपनेंकों तुम या भाँति लुकाय ?

पाछें रहीं सदा तुम, आगें करिकें कर्म - कलाप,
अन्तरजामीकी आँखिनके साँमैं नित चुपचाप।
प्रतिपल प्रति - मुहूर्तकी करिकें अन्तराल कमनीय
चलति रहीं तुम नित्य - निरन्तर लैकें मृदु नत हीय।
अपने या सम्पूरन गृहकों दै अपनौ परकास
करति रहीं यामें तुम कैसी नित अग्यात निवास।
चली गईं तुम आज खोलिकें जब ये द्वार - कपाट,
देखि पर्‌यो परिपूर्न रूपकौ आज निहारौ ठाट।
जीवनके सब दिवस और वे बचे-खुचे सब काज
ह्वैकें छिन्न-भिन्न पदनलमें आनि परे सब आज।
बहन करति है दृस्टि निहारी अब चिर-दिवसनि धारि
चिर-जनमनिकौ दरसन-परसन, पलक बिहीन निहारि।

८

मिलनों भयौ आज परिपूरन तुमरौ मेरे मनमें
या बिच्छेद - बेदनाके दृढ़ और घने बन्धनमें।
आय गईं एकान्त निकट तुम छाँड़ि देस अरु कालहिं,
हिरदेमें मिल गईं तोरिकें अन्तरालके जालहिं।
हेरत हौं तुमरे नैंननिसों आज सबहि सब ठाँहीं,
अनुभौ करत वेदना तुमरी मैं सब जगके माँही।
निज काजनिमें तव अदेख-कर हेरत हौं सुखकारी,
तव कामना आज पावन हौं निज कामना मझारी।
दोउनकी बातें समाप्त कर पाये दोऊ नाहीं,
हुतौ इतौ अवकास न तुमकों वा रजनीके माँहीं ?
उरमें बाँनी - हीन बिदाकी वहै बेदना धरिकें
डारी हुती दृस्टि चहुँ ओरनि ब्यर्थ बासना भरिकें।

९

हे लक्ष्मी, तुमरौ अन्तःपुर आज न किनहुँ रह्यौ है।
तुमनें आज सरसुतीकौ अति सरस सरूप लह्यौ है,
ठाड़ी हौ तुम सुभ-सँगीतके सतदल-दलनि मझारी।
मानस-सर तव चरननि तलमें मूरति मधुर निहारी
रचन अखिलके प्रतिबिम्बनितें आज अमल छबिवारी।
बाधा पावन नाहिं चित्तकी तव सुन्दरता प्यारी,—
सो मिलि गई आज या जगमें पुलकनि पूरन हैकें
सम्पूरन आनन्द धारिकें, सब उजियारौ लैकें
सकल सुमङ्गल सङ्ग। निहारौ कङ्कन-दुतिकों दरपन
कल-कोमल कल्यांन-प्रभा करि रह्यो आज है अरपन
सब सनियनके करमें। हियरा स्नेहातुर अनुराग्यौ,
निखिल नारियनिके चित्तनिमें ललकि जायकें लाग्यौ।
सोइ तिहारी बिस्व-मूर्ति मम उर-अन्तर छबि छाजै,
'ललित लच्छमी'-'सरस सरसुती' उभय रूप धरि राजै।

१०

कही नाहिं, कहि सकीं नाहिं निज मनकी बातें सारी,
राखति रहीं खर्ब करि निजकों तुम, हे लज्जाधारी,
जबलों इहाँ रहीं। हिय-गोपित आसा आदिक सब ही
कण्ठ उठाय रोय उठतीं वे जबहिं चाहतीं तब ही,
करति सचेत रहीं तुम चुपकें तनीं तर्जनीके भर
बिकल सँकोच बिबस, पाछें कहुँ पावें भूलि अनादर।
'निज अधिकार' बिना बोलें निज निर्मम हातनि करिकें
राख्यौ हुतौ सबनिके पाछें तुमने हेला भरिकें।

भईं महीयसि आज लाजतें परें मृत्युकों लैकें,–
बैठि हृदय - पङ्कजपै मेरे अखिल अगोचर हैकें
नत नैननि कहि डारौ अपनी जीवन-कथा अधूरी
भाषा - बाधा - हीन बचनतें। देह - मुक्त तव रूरी
बाहु - लता मम मरमस्थलपै एक बार लिपटाऔ,–
तुम अन्तिम-अधिकार आपनौ मम उर-अन्तर पाऔ।

११

मृत्यु - जवनिकाके पाछेतें पुनः लौट तुम आईं
मेरे हृदय - ब्याह - मन्दिरमें नवल - बधूकी नाईं
सब्दहीन पद-गतिसों। जितनी ग्लानि क्लान्त जीवनकी
सो सब मिटी मरन - मज्जनतें। रासि रूपके धनकी
प्रापनि भई बिस्व - लक्ष्मीकी परम कृपाके कारन।
मुग्ध मृदुल मुसकन मुखपै चित-निभृत दीप्ति करि धारन
ठाड़ी भईं आँनि चुपकेतें। मृत्यु - द्वारके द्वारा
संस्रुतिसे उरमें पैठीं तुम, प्रिये, प्रेमकी धारा।
आज न बाजे बजत, न जनता सजत, न उच्छव वैसो,
दिपत न दीपक-माल; आजकौ आनँद-गौरव ऐसो
स्तब्ध सान्त गम्भीर मूक अरु नैन-नीरमें निमगन।
जानत न या बात आजकी सुनत नाहिं कोऊ जन।
मेरे उर - अन्तर अब केवल एक दीप उजरत है,
बस, मेरौ सङ्गीन अकेलौ मिलन - गिरा गूँथत है।

१२

हौं करि रह्यौ आप अपनेमें एक अपूरब अनुभव,
हौं परिपूरन आज। निमिषमें तुमनें अपनौ गौरव,

देवि, मिलाय दियौ है मोमें। लै अपने हातनमें
दई छुवाय मृत्युकी पारस-मनि मेरे जीवनमें।
मेरी सोक-जन्य-अगिनीतें प्रगट्यो रूप निहारौ
नव निरमल मूरति धारन करि सुन्दर सूरतिवारौ,—
सती, अनिन्द्य सतीत्व-ज्योतितें दीप्त देह नव दरसै,—
जाकौं छुवत न सोक-दाह कछु, न कहुँ मलिनता परसै।
क्लान्ति-हीन कल्याँनतिकी सब महिमा धारन करिकैं
तुम मिलि गईं चित्तमें मेरे सम्पूरनता भरिकैं।
ताहीसों करि रह्यौ आज हौं अनुभव या जीवनमें,—
मेरौ पुरुष-प्रान विस्तृत ह्वै व्याप्यौ सबके मनमें,
अरु अनुभव करि रह्यौ मञ्ज ही अपने हृदय मझारी,—
मिलि गइ मेरे नर-प्राननिमें नित अजरामर नारी।

१३

मेरे या जीवनमें तुमनें
मिश्रित कर दइ मृत्यु-माधुरी।
दै आभा अन-अवधि विदाकी
रँग गईं रग-रग मो हियराकी,
आँकि गईं सब भावनानिमें
सान्ध्य-गगनकी बरन-चातुरी।
जीवनकी दिसिचक्र-परिधितें
पाई नव महिमा नव विधितें,
अँसुवँन-धोये हृदय-गगनमें
दूर दीख रइ देवता-पुरी।
मेरे या जीवनमें तुमनें
मिश्रित कर दइ मृत्यु-माधुरी॥

ए हो तुम कल्याँन - रूपिनी,
तुमनें कियौ मरनकों मङ्गल।
जीवनके वा पार - देसतें
प्रति-छिन मर्त्य-प्रकास-बेसतें
पठवति हौ निज चारु चित्तकौ
मौन प्रेम सुचि-सजल-सुकोमल।

निभृत सिनिग्ध मृत्यु-घर-भीतर
बैठीं हौ बातायन - ऊपर,
राख्यौ है सँजोय ज्योतिर्मय
दीप चिरन्तन आसा-उज्जल।
ए हो तुम कल्याँन-रूपिनी,
तुमनें कियौ मरनकों मङ्गल।

तुमनें मेरौ जीबौ - मरिबौ
जुगल बाहुमें बाँधि लियौ।
करिकें अपनें प्रान अनावृत
दियौ मिलाय मृत्युमें अंमृत,
प्रिये, मरनकों जीवनकौ प्रिय
तुमनें अपनें हाथ कियौ।

ड्योढ़ी-द्वार खोलि तुम डार्यौ,
परदावारौ पट पुनि टार्यौ,
जनम-मरन मँधि ठाड़ी हैकें
थिर सरूप दिखराय दियौ।
तुमनें मेरौ जीबौ - मरिबौ
जुगल बाहुमें बाँधि लियौ।

१४

देखि परे कछु आज पुरानें मोकौं पत्र तिहारे,–
मधुर स्नेह-मुग्ध जीवनके चिन्ह चार-छै प्यारे,
पूर्व-स्मृतिके कछुक खिलौंना जतन-जावतौ करिकें
राखे हुते गुपत सञ्चयमों तुमनें घरमें धरिकें ।
काल-स्रोतकी प्रलय-धार जो बहा देत थल सारे,
जामें बहे जात केते रवि, केते ससि अरु तारे,
ताही प्रबल प्रलय-धारामों तुम जिय डरपि गईंतीं,
जेई कछु छोटी - छोटी-सी चीजें चोरि लईंतीं,
धरी लुकाय हुतीं गुनिकें, पुनि मनमें बात बिचारी,–
'मेरे या धनकौ अब कोऊ और नाहिं अधिकारी ।'
आस्रय आज कहाँ पावें ये, का ढिंग जाय पतीजें ?
नाहिं जगतमें काहूकी हैं तौऊ हैं ये चीजें ।
राख्यौ हुतौ आपनों इनपै नेह आन्तरिक जैसौ,
राखत है का तुमपै कोऊ आज अपुनपौ वैसौ ?

१५

नवल बधूके बेस एक दिन या संसार मझारो
तुम जो मेरे निकट आयकें ठाड़ी भइँ सुकुमारी,
दयौ हुतौ अपनों कम्पित कर जो मेरे करमें ही,
सो कि दैवकी लीला अथवा अकस्मात ऐसें ही ?
केवल एक मुहूरतकी तौ यह घटना है नाहीं,
हुती अनादिकालकी मङ्गल-मन्तरना या माहीं ।
मिलन दुहुँनिकेतें हम दोऊ रहैं पूरन हैकें,–
जुगनि-जुगनितें आय रहे हैं याइ आसकों लैकें ।

लै गइँ हौ कितनौं-कछु मेरे प्राननितें, प्राननि-धन,
या जीवन-झरनामें कितनौं-कछु दै गइँ हौ जीवन !
केते दिन, केती रातनिमें, केते लज्जा - भयमें,
किती हानिमें, किते लाभमें, किती हारमें, जयमें,
स्रान्ति-रहित ह्वै रचत हुते जो मिल-जुरकें हम दोऊ
ताकों पूरन हम दोउन बिन करि सकिहै का कोऊ ?

१६

अलप-आयु या जीवनमें कछु आनन्दित दिन प्यारे –
कँपत पुलक - पूरन, सँगीतकी लीन बेदना-वारे –
प्राप्त करे ते, लक्ष्मी, सो का तुम जैहौ बिनसाकें ?
सो तुमनें कित, किन जतननि, किन भावनि धरे छिपाकें,–
सोइ खोजत हों। सन्ध्याके कनक-मेघ-परतनिमें
इकटक देखि लखी,–तहँ कौनहुँ बड़े करुन बरननिमें
लिखी भई वा-जनम - साँझकी खोई-भई कहाँनी।
आज दुपैरीके पातनिकी मरमर - स्वरमय बाँनी
करति प्रचार तिहारी कबहूँकी उनि दीरघ-स्वासनि।
तप्त सीतके घाँम माँहिं किय बिस्तारित निज हातनि
केनी सीत - दुपैरीकी घन - सुख - स्तब्धता। यातें
निज दिसि देखत बैठ्यौ-बैठ्यौ सोच रह्यौ ये बातें,–
किते निहारे रात-दिवस अरु किनी साध मोहिं घेरें,
तिनकौ क्रन्दन सुनि फिरि-फिरि तुम फिर रइँ मेरे नेरें।

१७

बज्र वृष्टिकों लै आवत है जैसें आगें करिकें,
को जानततौ सोक तिहारौ नाहि भाँतिसों भरिकें

त्याय देयगो अकसमात ही मेरे या जीवनमें
घनों मिलन-सञ्चार अबाधित व्यापित ह्वै छन-छनमें ।
मेरे अँसुवँनके मुतियँनकों लै आदर अनुसारी
गूँथि पहरि सीमन्त-देसमें व्यर्थ-सोकपै, प्यारी,
चुपकें हनत, हाय, नव कौतुकवारी हाँसी कितनी !
तरिकें क्रमतें तुम सब ही तें दूरि पहुँच गईं जितनी
तितनी मेरे निकट आय गईं । ना-जानें का कीनौं,
सबकों बञ्चित करिकें अपनों सब तुम मोकों दीनौं !

मृत्यु-माँझ अपनें आपेकों तुमनें आप हर्यौ है,
मेरे या जीवनमें अपनों जीवन आनि धर्यौ है,
आज प्रकास पसार्यौ तुमनें मेरे इन नैंननमें,
अब या बात जाँनिकें मेरें सोक नाहिं है मनमें ।

१८

रमनी हुतीं सजाएँ नव तुम या संसारहिं जैसें,
अब आकें मेरे जीवनकों आज सजाऔ तैसें,
निरमल करिकें, सुन्दर करिकें । बीन-बीनकें सगरौ
फेंक देहु यह तुच्छ घास-तृन जितनों है जहँ बगरौ,
अरु अनेक आलस्य-क्लान्त उन दिन-रातनिके पाऔ
जितनें जो-कछु जहाँ उपेच्छित छिन्न खंड । भरि ल्याऔ,
ल्याऔ निरमल नीर, मार्जना सब कलङ्ककी कीजे,
जितनों है जंजाल-जाल अब फैंकि बाहिर दीजे ।

जहँ एकान्त भवनमें मेरौ पूजा-गृह है, प्यारी,
धीरें द्वार खोलि चुपकेतें आऔ तहँ, सुकुमारी,—

मङ्गल-कनक-कलसमें भरिकें पुन्न-तीरथनिकौ जल
राखौ जतन-जुगतिसों, आनौं पुनि पूजाकौ सतदल
तुम निज करनि उठाय । तहाँ हम भक्ति-भावमें पैठें,
दोउ एक आसनपे आगें इस्ट-देवके बैठें ।

१९

किती बार पागल बसन्त-दिन वेस अतिथिकौ करिकें
आयते हँसि अपनें-तुपनें द्वारें बीना धरिकें;
लैकें अपनें गीत-मन्त्र मन-मोहनवारे केते
पत्र-पुष्प आयोजन जादू करिबेवारे जेते!—
कोइल-से कूक गए वे, "खोलौ जी, खोलौ द्वारौ!
आज बिसारौ काम-काज अरु आपौ, विश्व बिसारौ।"
आय-आयकें गये किते दिन थपकी दै द्वारेपर,
काहु काजमें लग्यौ हुतौ हौं, तुमने दयो न उत्तर ।
आज गईं तुम, वे आये लै वायु दक्खिनी वैसी,
आज तिन्हें तनकहु भूल्यौ रहुँ सक्ति नाहिं है एसी ।
ल्यावत सो तव दृष्टि बोलिबौ बिन-उच्चारनवारौ,
कुञ्जनिमें उठाय मरमरतें तव आकुल चिन धारौ ।
बारम्बार कियेते बञ्चित मिलन-दिननिमें जिनकों,
तव वियोग सूने घर आँगन टेर-टेरकें तिनकों ।

२०

अहो बसन्त, आज तुम आऔ,
मेरे द्वारें आऔ!
पुहुप न प्रस्तुत, भग्न प्रबन्ध,
आसन सूँनों, दीपक अन्ध,

मो गृहकौ श्री-हीन दैन्य लखि
हँसी रोकि ना पाऔ,
अहो बसन्त, आज तुम तौऊ
मेरे द्वारें आऔ!

खुलि रए आज सकल बातायन,
खुलौ पर्‍यौ घर मोरौ।
बाधाहीन पर्‍यौ दिन आज,
ना कछु आसा, ना कछु काज,
अपनें - आप मलय - मारुतसों
डोलन चित्त - हिंड़ोरौ।
खुले सून्य गृहके बातायन,
खुल्यौ पर्‍यो घर मोरौ।

किते दिननिके हास-रुदन इन
साङ्ग ह्वौ गये जेते।
ते बिखरें तुमरे आकास,
तुमरे पवन लैंहिं निःस्वास,
बकुल और चम्पकमें जनमें
नवल रूप धरि तेते,
गत दिवसनिके हास रुदन सब
साङ्ग ह्वौ गये जेते।

बीच बेदनाके मो हियमें
करौ आपनों उच्छव!
अपनी हाँसी बंसी ल्याव,
रासि-रासि दल - फूल सजाव,

गान गाय जावैं फिरि-फिरिकैं
जेते पंछी हैं सब,
करिकैं धुनित बेदना मेरी
करौ आपनों उच्छब!

ता कलरवमें उर-अन्तर हों
पैहौं पैहौं आहट।
सरग - मरग लोकनि दल जोर
करिहौ तुम सब मिलि जब रोर
हँसि-हँसि करिहौ बार-बार जब
मरन - द्वारपै खटखट,
ता कलरवमें उर - अन्तर हौं
पैहौं पैहौं आहट।

२१

जो 'बहु' कों करि 'एक', बिचित्रनिकों जो करन सरस है;
बहुत-बहुतकों करि राखन निज तुच्छ तर्जनी-बस है,
बिबिध - प्रयास - छुब्ध दिवसनिकों ल्यावत धीरैं-धीरैं
घनी सुप्तिके सान्त स्वर्नमय सन्ध्या - तमके तीरैं
'ध्रुव'-दीपक-दीपित तिरपित सुनिभृत अवसाँन - मझारी;
जो डुबवत बहु - वाक्य - बिकलना एक गीत उच्चारी
बिथा - सुधा - रस - साँन्यों,– मोकों ताहि प्रेमतें, प्यारी,
तुम बञ्चित करिकैं जिन राखौ; – प्रतिदिन करौ जगारी:
मेरे दिवस - अन्तमें कञ्चन - कनक - किरनकौ लहरौ
दैहै आँकि नींदके तम - पट ऊपर सपन सुनहरौ;

तव पद - पात माँझके मेरे सुन्न गगनमें ऐहै
आरक्तिम अलक्त - आभामें चुपकें पकस्यौ जैहै ;
निर्निमेष नैंननिसों जीवन यह आकरषित करिकें
तव निज गृहमें पूर्न मरन ढिंग लै आवैगौ धरिकें ।

२२

जिन भावनि रमनी - सरूपमें धरि अपनी मधुराई
बिकसित करि पुनि बिस्वनाथनें अपने-आप चुराई ;
जा प्रकार जो सचराचरमें अति मुन्दर दरसत है,
जा प्रकार जाके सुप्रेममें नित आनँद सरसत है,
जा प्रकारतें फूल लतामें, लहरि नदीमें सोहै,
जा प्रकारतें बिस्व - ईस्वरी श्री बिराज मन-मोहै,
जा प्रकारतें नव घन निज धन बहु धारनि बरसावत,
भूमि-भागके दोउ तटनिकों तटिनी निज पय प्यावत,
जा प्रकारतें परम 'एक' आनन्द माहिं उनमुक है
आप अपुनकों 'द्वै' करिकें पुनि आपुन पावत सुख है,
उपजि दुहुँनके मिलन - घाततें एक बेदना अद्भुत
रचि-रचि बरन-गन्ध-गीतनिकों नितहि करति है प्रस्तुत ।
हे रमनी, छिन-मात्र आइकें मो ढिंग डेरा कीनों
ताहि रहस्याभास चित्त मम परिपूरन करि दीनों ।

२३

अये सँजाऔ, अये सँजोऔ, सन्भा - दीप सँजोऔ !
मेरे हियके एक प्रान्ततें जौ परकास न खोऔ,
निज हातनि जगाय राखौ । ता पाछें गहि परिछाँहीं
बैठीं रहौ अपुन तुम या आसन्न रातके माँहीं

आज जतनसों कसिकैं बैंनी, सजि रक्ताम्बर साजै
मेरे या बिच्छिप्त चित्तकों काढ़ि लैनके काजै
जीवनके जञ्जाल - जालतें। आज समझ हौं पायौ
बहु कर्मनिकी कीर्ति - ख्याति बहु आयोजन मन-भायौ
ह्वैकें सूखौ बोझ रहत है, सब झूँठौ दरसावै
वा उद्योग - अटम्बर - पाछें कहूँ जो न सरसावै
एक हास ; नाना दिसि हैकें नाना दरप बटुरकें
नाना चेस्टाएँ सन्ध्याके मृदु प्रकासमें जुरकें
एक गेहमें आकें जो ना राखें थिरता धरिकैं
एक प्रेमके चरन-प्रान्तमें स्रान्त सीस नत करिकें।

२४

ज्यों गोधूरि आय चुपकेतें निज आँचरसों ढाँकत
कर्म-क्लान्त जगकी मलीनता जेती अरु जेते छत,
भग्न भवनकौ दैन्य, छिन्न बसननिकी लज्जा जेती,—
तुमरौ सुन्न सोक त्यों ही द्वै स्निग्ध करनितें एती
देय पसार उदार अबारित तिमिर-रासि अँधियारी
मेरे या जीवनकी छोभित बहु दिन - रजनीवारी
स्खलन खण्डता छति सीरन दीना जीरनता ऊपर,—
भलो - बुरौ सब लैकें मेरे प्राननकों करि इकतर
धरै बिषाद - बुने इक बिस्तृत सुबरनमय बेठनमें।
रहै आज कौंनहुँ इच्छाकौ कौंनहुँ छोभ न मनमें,
आज अतीत अतृप्ति ओर हौं फिरि-फिरि निरखौं नाहीं,
जो कछु गयौ, जाय,— मन्थरगति हौं चलि जाउँ तहाँहीं
जहाँ तिहारे मिलन - दीपकी जोति अकम्पित राजै
त्रिजग-देवके क्लान्ति-हीन आनँदमें छबिसों छाजै।

२५

तुम जगौ जगौ रे चित्त, जगौ जागरमें,
आयौ है आयौ ज्वार अस्रु-सागरमें !
ताकौ वार-पार नहिं जानत,
सो अब और बाँध नहिं मानत,
तुम ताके गर्जन-गान जगौ जागरमें,
अब नचै तिहारी नाव अस्रु-सागरमें ।

याही ऊषाकी आज पवित्र लगनमें
उठि रह्यौ भासकर नयौ गभीर गगनमें ।
दिग-भ्रमकरी वायुमें बाजन
सोई महामन्त्र है गाजत
अनजानी यात्रा-वारी याहि लगनमें
दिगतें लगाय दिगअन्त प्रजन्त गगनमें ।

जाँनें उदार उज्जल अकासके माँहीं
का जागत है लै अस्त्र छटाकी छाँहीं !
ना जाँनों हौं केहिके कारन
अतल उठत है जागि जगारन
माँगत उठाय दोउ बाँहिं काहि नभ पाँहीं
पागल कीन्हों केहि दीप्त घटाकी छाँहीं ।

सूँनीं सिकतामय बिपुल सिन्धु-बेलामें
बिच्छिप्त भई है बाढ़ रुद्र-खेलामें ।
इहाँ जागरित दिन नित अभिनब
नाहिं बिहङ्गनिकौ इत कलरव,

या सूँनीं सिकता-लीन बिपुल बेलामें
यहि फेनिल तुङ्ग तरङ्ग-रङ्ग-खेलामें।

झूलत रे, झूलत रे, अँसुवा झूलत रे,
करि छाती-तट आघात हृदय हूलत रे!
लोक अनन्त सामुहें है जब
जानें परिहै जहाँ होय अब,
अति आकुल कूल-विहीन सोक झूलत रे,
काहू सुबरनके कूल-ओर हूलत रे!

जिन राखि जकड़िकें अब अँधियारी धरनी,
दै खोल, खोल दै, खोल बँधी-भइ तरनी।
अति असान्त पालनिके ऊपर
बायु बहति, लागति हा हा कर,
रह जावै तेरी दूर डरी यह धरनी।
ना और राखिए रोकि तरङ्गिन तरनी।

२६

आज सोऔ तुम, मैं द्वारेपै सजग रहूँगौ सजिकें साज,
बारि प्रकास धरूंगौ।
तुम तौ चाह चुकीं, मैं इकलौ, केवल इकलौ बैठ्यौ आज
तुमरी चाह करूंगौ।

मेरे हित तुमकों न रहैगौ अब कौनहुँ सज्जाकौ काज,
अब तौ तुमरे हित ही,
सुन्दरि, अबतें हौं राखूंगौ निज हियरे सुमननितें साज
निसि-दिन प्रतिछिन नित ही।

तुमरे जुगल कमल-कर केते दिन-ना स्रान्ति-दुक्ख बिसराय
थके न सेवा करिकें,
आज तिन्हें हौं तिनके सबही काम-काजतें ऐंचि-उठाय
राखूँगौ सिर धरिकें।

अबकें तुम अपनी पूजा करि पूरन, सौंपि चलीं चुपचाप
मन अरु प्रान हृदयमें,
अबतें ग्रहन करौ मम पूजा, लेहु नैंन-जल बिमल बिलाप
स्तुति - गीर्तानकी लयमें।

२७

चाहीती तुमनें याहि स्यामला धरनी,
हाँ, हँसी तिहारी हुती बड़ी मन-हरनी।
मिलि अखिल स्रोतमें जावौ
जाँन्योंतौ खुसी मनावौ,
तिहिं हेतु हियरिया हुती हृदय - मन - हरनी।
तुमरी अपनी यह हुती स्यामला धरनी।

अब या उदास प्रान्तरहि माँहिं नभ धरिकें
जनु फिरत तिहारे नैंन निरखिनी करिकें।
सोइ हँसी तिहारी गोई,
निरखनि-देखनि सुख सोई,
सबकों छू - छूकें चलति बिदा अनुसरिकें
यहि ताल-बिरछ-बन गाँव-गोठ सब धरिकें।

निज सोइ चाह मम अँखियनि अङ्कित करिकें
मेरे नैंननि निज दृस्टि गई तुम धरिकें।
अब इकले मम नैंननकौ
दिखिबौ देखत द्वै जनकौ,
तुम करत भोग मो माँहिं अपुनकों भरिकें,
निज मुग्ध-दृस्टि मम पुतरिन अङ्कित करिकें।

यहि जो हिमकौ परकास सिहरि रह्यौ बनमें,
झरि - झरि सिरीषके पात परात पवनमें
तव - मम मन दोऊ मिलिकें
खेलत सदैव हैं खिलिकें
छाया - प्रकासके या आकुल कम्पनमें,
हिम - दुपहरियाके याहि मर्मरित बनमें।

मेरे जीवनमें जियौ, जियौ तुम आकें।
परकासौ मो मन माँहिं कामना त्याकें।
जनु जाँनि परत मोहिं मनमें
साँचहुँ अति सङ्गोपनमें
'मो' में तुम 'मैं' ह्वै रहीं आज सब पाकें,
मेरे जीवनमें जियौ, जियौ तुम आकें!

बंगला-रचना : अगहन १९५९
हिन्दी-रूपान्तर : श्रावण १९९१

—